मुद्रक—
'महालचन्द बयेद।
"ओसवाल प्रेस"
१८६, क्रास स्ट्रीट,
कलकत्ता।

विषय-सूची

कृतज्ञता

देश-रक्षा, शील-रक्षा और पातिव्रत-पालन के जैसे विलक्षण उदाहरण भारतीय वीराङ्गनाओं के जीवन चरित्रों में पाये जाते है, वैसे विश्व के किसी भी देश की वीराङ्गनाओं के जीवन चरित्रों में शायद ही मिलें। कुछ उदाहरण तो बिल्कुल बेजोड़ हैं।

इस भारत वसुन्धरा पर अवतरित भारतीय वीरों और वीराङ्गनाओं के कारण ही यह भारत भूमि, वीर-प्रसविनी कहलाती है।

भारतीय वीराङ्गनाओं के अद्भुत और रोमाञ्चकारी बलिदानों का चित्ताकर्षक वर्णन पढ़ने से पाठकों के मस्तक श्रद्धा पूर्वक उनके पाद-पद्मों में झुक जाते है। उनकी नीति-निपुणता, रण-पटुता और शस्त्र-परिचालन कला सराहनीय है, प्रशंसनीय है। उनके आश्चर्यकारी कार्य-कलापों की जानकारी करना प्रत्येक भारत वासी का कर्त्तव्य है।

भारतीय वीराङ्गनाओं का संक्षिप्त चरित्र मय चित्रों के

प्रकाशित करने की मेरी कई वर्षों से प्रवल इच्छा तो थी ही, 'कल्याण' के नारी विशेषाङ्क से और अधिक प्रेरणा मिली। उससे विशेप प्रेरित होकर मैंने एक पत्र कल्याण-सम्पादक श्रद्धेय भाई हनुमानप्रसादजी पोद्दार की सेवा मे भेजा। 'कल्याण' में प्रकाशित वीराङ्गनाओं के चरित्र, मय चित्रों के पुस्तकाकार प्रकाशित करने की उनसे स्वीकृति मांगी थी। हर्ष का विषय है कि उन्होंने 'कल्याण' से वीराङ्गनाओं के चरित्र लेकर प्रकाशित करने की स्वीकृति तो अविलम्ब भेज दी, पर चित्रों के विषय में लिखा कि 'हम अपनी ब्लाकों से छापकर भेजने या छापने कि लिए आपको ब्लाकें देने मे असमर्थ हैं, क्योंकि हमारे यहाँ का ऐसा नियम नहीं है। आप चाहे तो हमारे प्रकाशित चित्रों से ब्लाकें बनवा सकते हैं।' उनकी इस महान् उदारता के लिए मैं उनका और 'कल्याण' का चिराभारी हूँ। अन्य सहायक पुस्तकों के लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना भी अपना कर्तव्य समझता हूँ।

कुछ वीराङ्गनाओं के चरित्र, मैंने स्वतन्त्र रूप से इसलिये लिखे है कि उनके परिचय की मुझे जो प्रमाणिक जानकारी प्राप्त हुई उनमें और पूर्व प्रकाशित घटनाओं मे काफी अन्तर था। चित्र सब नये बनाये गये हैं।

महालचन्द बयेद

संपादक

भारतीय वीराङ्गना

द्वितीय भाग

स्वामी हित सीस निज कर सों उतारि देत
भारत में देवियें अजौं तो विद्यमान हैं

जाग उठी चित्तौड-दुर्ग में जौहर की भीषण ज्वाला ।
हँसती हुई धर्म-रक्षा हित कूद पड़ी क्षत्रिय-बाला ॥

[पृष्ठ—१०

सती पद्मिनी

चित्तौड़ पर यवनाधिपतियों की गृध्र-दृष्टि सदैव लगी रहती थी। हिन्दुस्तान में, मध्यकालीन इतिहास साक्षी है कि दो ही स्थान ऐसे थे जिन पर आधिपत्य होने पर कोई भी अपने आपको दसवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के बीच के समय में सार्वभौम सम्राट् घोषित कर सकता था। सन् १२७५ ई० में चित्तौड़ के राजसिंहासन पर राणा लक्ष्मणसिंह आसीन था, उसकी अवस्था उस समय केवल बारह साल की थी। राज्य की देख-रेख उसका चचा भीमसिंह या रत्नसिंह (रतनसिंह) करता था। रत्नसिंह एक योग्य शासक था। टॉड ने लक्ष्मणसिंह के पितृव्य का नाम भीमसिंह ही दिया है, लेकिन इतिहासकारों ने इसे असत्य ठहराया है; उनका मत है कि उसका नाम रत्नसिंह ही था। आइने-अकबरी और जायसी की पद्मावत मे भी रत्नसिंह नाम मिलता है। फरिश्ता ने भी यही नाम दिया है। रत्नसिंह की रानी का नाम पद्मिनी था, चित्तौड़ में तथा भारत के भिन्न-भिन्न भागों मे पद्मिनी की सुन्दरता और वीरता एक ख्याति की वस्तु बन गयी थी। वह अपूर्व सुन्दरी थी, उसका पद्मिनी नाम ही इसकी पुष्टि करता है। जायसी ने उसको सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की लड़की बताया है। सिंहल में पद्मिनी स्त्रियों का होना केवल गोरखपन्थी ही मानते

हैं। रायबहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा का मत है कि 'रत्नसिंह के राज्य करने का जो अल्प समय निश्चित है, उससे यही माना जा सकता है कि उसका विवाह सिंहलद्वीप अथवा लङ्का के राजा की कन्या से नहीं, सिंगोली के (चित्तौड़ से ४० मील पूर्व) सरदार की कन्या से हुआ हो।' हो सकता है कि पद्मावती या पद्मिनी सिंगोली के सरदार की कन्या रही हो और जायसी ने उसे सिंहल समझकर अपने आख्यान में अकृत रूप दिया हो। इतना तो निश्चित ही है कि पद्मिनी रानी की अपूर्व सुन्दरता की चर्चा सुनकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर सन् १३०३ ई० में हमला कर दिया था। आक्रमण होने पर जो कुछ भी घटना घटकर रही, उसकी सत्यता मे तो विश्वास करना ही चाहिये।

अलाउद्दीन तो विश्व-विजय का सपना देख रहा था। उस मदान्ध पर द्वितीय सिकंदर बनने की सनक सवार थी, लेकिन भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उसे पहले रण थम्भोर और चित्तौड़ से ही निपट लेने के लिये विवश किया। इतिहास इस बात का जीता-जागता प्रमाण है कि खिलजी-सम्राट हिन्दुत्व को मटियामेट कर इस्लामी प्रभुता की नींव दृढ़ करना चाहता था। अल्तमस और अलाउद्दीन के राजत्वकाल में हिन्दुओं पर जो अत्याचार और अनाचार ढाहे गये, लेखनी उन्हें नहीं लिख सकती।

अलाउद्दीन के आक्रमण का समाचार सुनकर राजपूतों ने

नंगी तलवार की शपथ लेकर कहा कि 'जीते-जी यवन इस भूमि की पावनता नहीं नष्ट कर सकते।' वह बहुत दिनों तक घेरा डाले पड़ा रहा। इस अवसर पर पद्मिनी ने अद्भुत साहस और तेजस्विता का परिचय दिया। दोनों सेनाओं की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। पहले तो अलाउद्दीन ने पद्मिनी के लिये ही आक्रमण किया था, परन्तु अब उसने कहला भेजा कि 'मैं पद्मिनी को नहीं चाहता, आप उसे केवल एक बार मुझे दिखा दें। मैं दिल्ली लौट जाऊँगा।' राणा को यह बात बहुत अप्रिय लगी, उन्होंने दूत से तड़ककर कहा कि 'यह असम्भव है।' पद्मिनी ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। उसने पति से कहा कि 'मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण चित्तौड़ तबाह हो जाय, प्रजा मटियामेट कर दी जाय। राजपूत नारी आपत्तिकाल में जानती है कि उसे क्या करना चाहिये, आइने में मुख दिखलाने में आपको आपत्ति नहीं करनी चाहिये।' रत्नसिंह ने उसकी बुद्धिमत्ता की बड़ी सराहना की। अलाउद्दीन के पास समाचार भेज दिया गया कि 'रानी को प्रत्यक्ष मुख दिखलाने में आपत्ति है, यदि वे चाहें तो आइने में देख सकते हैं।' अलाउद्दीन को तो दिल्ली लौटने का बहाना मिलना चाहिये था, उसमें इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी कि वह चित्तौड का घेरा डाले पड़ा रहे। अलाउद्दीन चित्तौड़ के राजमहल में आया। उसका काफी स्वागत-सत्कार हुआ। पद्मिनी एक जगह खड़ी हो गयी। सामने दर्पण था। अलाउद्दीन ने रानी की ओर पीठ करके

दर्पण में पद्मिनी के मुखपद्म के दर्शन किये। वह रानी का मुख देखकर आश्चर्यचकित हो उठा। दर्पण पर ही उसकी दृष्टि गड़ी रही। उस नराधम की कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी; उसने मन ही-मन निश्चय कर डाला कि चित्तौड़ पर आधिपत्य स्थापित करके ही रहूँगा।

जायसी हिन्दू रीति-रिवाजों, पद्धतियों, देवी-देवताओं और प्रणालियों में पूर्ण आस्था रखता था। उसने इस घटना को बिल्कुल उड़ा दिया है। उसकी लेखनी को यह बात कभी सह्य नहीं थी कि 'शैतान' अलाउद्दीन राजपूतानी का मुख आइने में भी देखे। उसके कथानक के अनुसार तो अलाउद्दीन ने राजा से मैत्री कर ली थी, चित्तौड़ में दावत खाने गया था। वह राजा के साथ शतरंज खेल रहा था कि संयोग से उसने पद्मिनी का मुख दीवार पर लगे दर्पण में देख लिया। पद्मावती झरोखे पर बैठ कर खेल देख रही थी। सुल्तान को मूर्च्छा आ गयी। उसके दूत ने समझाया कि वह पद्मावती थी। जिस समय राजा उसे किले से बाहर पहुँचाने जा रहा था, यवन-सैनिकों ने उसके इशारे से राजा को कैद कर लिया। चित्तौड़ में हाहाकार मच गया। इतिहासकार फरिश्ता लिखता है कि अलाउद्दीन ने राजा के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह छोड़ दिया जायगा यदि पद्मिनी उसकी सेवा में भेज दी जाय। जब राजपूतों को यह बात ज्ञात हुई, उन्होंने रत्नसिंह के पास विष भेजने का निश्चय कर लिया, जिससे राजा आत्मयज्ञ कर स्वर्ग चला जाय।

पद्मिनी ने कूट नीति से काम लिया। उसने 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति अपनायी। उसने वीरवर गौरा और उसके बारह वर्ष के शूरवीर भतीजे बादल की सहायता और सम्मति से अलाउद्दीन को पत्र लिखा, 'जब आप मुझे न पाने से ही मेरे स्वामी के पवित्र प्राणों का हरण करना चाहते है, तब मैं यह नहीं चाहती कि मेरे कारण मेवाड़ के सूर्य का अस्त हो। मैं आपके निकट आत्म-समर्पण करने के लिये प्रस्तुत हूँ; परन्तु आप जानते हैं कि मैं राजरानी हूँ। मैं अकेली आपके यहाँ न आऊँगी। मेरे साथ मेरी सात सौ सहचरियाँ, जो सम्भ्रान्त राजपूतों की कन्याएँ तथा महिलाएँ है, रहेंगी। कुछ तो मेरे साथ दिल्ली जायँगी और कुछ चित्तौड़ वापस लौट आयँगी। आपको आत्म-समर्पण करने के पहले मैं एक बार अपने पति के चरणों का दर्शन करूँगी। कारागार के सामने किसी भी मुसल्मान सैनिक का पहरा नहीं होना चाहिये। यदि आपको यह शर्त स्वीकार हो, तो मैं आने का प्रबन्ध करूँगी।' उस दुष्ट की आँखें तो पहले से ही बंद हो चुकी थी। उसे कहाँ पता था कि 'कण्टकेनैव कण्टकम्' का छुरा उसके गले पर चलाया जा रहा है। उसकी काम-वासना तो और भी प्रज्वलित हो उठी। 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' के अनुसार वह जड़ बन गया। उसे विचार करने का अवसर ही न मिला। उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। राजपूत सैनिक शस्त्रों को कपड़ों के अन्दर छिपाये कहारों के भेष में डोलियाँ उठाकर ले चले।

प्रत्येक डोली के साथ अंदर दो और बाहर चार—छः राजपूत

थे। सात सौ डोलियों में बयालीस सौ राजपूत वीर चले। सब से आगे की सुन्दर पालकी में स्वयं महारानी पद्मिनी थीं। उस पालकी के दोनों ओर गोरा और बादल—चचा-भतीजा—घोड़ों पर सवार होकर चल रहे थे।

यह भी कहा जाता है कि स्वयं रानी पद्मिनी नहीं गयी थीं। पद्मिनी की पालकी में तमाम औजारों को लेकर एक लोहार बैठ गया था, जो रत्नसिंह को कैद से मुक्त करने के लिये था। रानी राजमहल के झरोखे पर बैठी परमात्मा से अपने प्राणाधार के प्राणों की भिक्षा माँग रही थी। गोरा और बादल की कूटनीति से किसी को पता तक न लग पाया कि पद्मिनी की पालकी में वह नहीं, एक लोहार है। कविवर जायसी ने इस दृश्य का बहुत सजीव वर्णन किया है। 'बैठ लोहार न जानै भानू' राजपूतों ने अपने राजा को कैद से छुड़ा लिया, दोनों ओर के सिपाहियों और सैनिकों ने विकट मार-काट की।

भइ अग्या सुलतानी, बेगि करहु यहि हाथ।
रतन जात है आगे, लिये पदारथ साथ॥

वीरवर गोरा ने इस लड़ाई में वीरता से लड़ते हुए वीर-गति प्राप्त की। अलाउद्दीन के पैर उखड़ गये। रत्नसिंह सकुशल किले में पहुँच गये।

अलाउद्दीन को अपनी इस पराजय का बड़ा खेद था। कई वर्षों के बाद उसने प्रचण्ड सेना को साथ लेकर पुनः चित्तौड़ पर चढ़ाई की। पिछले युद्ध से बचे-खुचे मरणोन्मत्त वीर राजपूत

केसरिया बाना पहनकर निकल आये, राजपूतों की तलवार-भवानी ने सैकड़ों के सिर धड़ से अलग कर दिये। उधर राजपूतानियों ने भी साहस के साथ पद्मिनी की अध्यक्षता में अपने कर्तव्य का पालन किया। अबुलफजल ने आइने-अकबरी में लिखा है कि रतनसिंह की मृत्यु अलाउद्दीन के साथ युद्ध में हुई।

पद्मिनी ने जौहर-यज्ञ किया। पद्मिनी की अनुमति से चित्तौड़ की राजपूत-वीराङ्गनाओं ने मिलकर एक सूखे विशाल कुण्ड में चिता जला दी। अग्नि की शिखाएँ 'शत-शत जिह्वा' निकालकर आकाश-पथ को चूमने लगीं। पद्मिनी ने उन रणाङ्गनाओं से कहा, 'बहिनो! आज हम सब आर्य नारियों की मर्यादा-रक्षा के लिये, पवित्र सती-धर्म की रक्षा के लिये और देश का मुख उज्ज्वल रखने के लिये अग्निदेवता को अपने शरीर समर्पण कर रही हैं। यवन भी आँख खोलकर देख लेंगे कि हमारे हृदयों में कितना आत्मबल और धर्मबल है।'

सहस्रों स्त्रियाँ अग्निकुण्ड में कूद पड़ीं, देखते-ही-देखते सब कुछ स्वाहा हो गया! जिस सौन्दर्य को देखकर अलाउद्दीन के हृदय में पाप-वासना जाग उठी थी, जिसके चरणों पर हिन्दुस्तान का बादशाह लोटने को तैयार था, वही अपने कुल-गौरव की रक्षा के लिये अग्नि में समा गया। बादशाह को उस विशाल किले में, एकलिङ्ग के उस महा मरघट में राख के सिवा और कुछ नहीं मिला।

वीराङ्गना वीरा

वीरा की वीरता विख्यात है। साहस पराक्रम और रण-कौशल के लिये वह प्रसिद्ध है। वीरा, महाराणा उदयसिंह की उपपत्नी थी। यद्यपि उसने विवाह नहीं किया था, तथापि वह महाराणा उदयसिंह को ही पति मानती थी। उसने बड़ी वीरता से उदयसिंह के प्राणों की रक्षा की और उन्हें अकबर के पंजों से छुड़ा लायी।

अभी अकबर को शासन की बागडोर सम्हाले कुछ ही दिन हुए थे कि उसने चित्तौड़ पर हमला कर दिया। उदयसिंह अकबर से लड़ना नहीं चाहते थे, वे कायर और डरपोक थे। उनके वीर-पुत्र हिन्दूकुल-दिवाकर महाराणा प्रताप ने एक बार अचानक ही कह डाला था कि 'यदि महाराणा सांगा और मेरे बीच चित्तौड़ का राणा और कोई दूसरा न हुआ होता, तो अकबर उस स्वाधीन-भूमि पर अपना आधिपत्य कभी नहीं स्थापित कर पाता।'

कृष्णसिंह और जयमल्ल वीराग्रणी सेनापतियों और वीराङ्गना वीरा ने महाराणा को युद्ध के लिए विवश कर दिया। युद्धारम्भ हुआ, महाराणा स्वयं युद्ध में नहीं गये किन्तु उनके सेनापति बड़े बहादुर योद्धा थे उन्होंने घमासान युद्ध करके शाही सेना को भगा दिया। इसी प्रकार सात बार शाही सेना को पराजित कर उन्होंने विजय प्राप्त की। आठवीं बार जब स्वयं सम्राट

अकबर युद्ध में आया, तब भीरु महाराणा उदयसिंह घबड़ाकर वीरा के पास गये और कहने लगे—'अब संधि करने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, मैंने संधि करने का निश्चय कर लिया है।'

वीरा सुनकर क्रोधित-सिंहनी की भांति गर्ज उठी। वह कहने लगी—

यह पहनलो मम चूनरी, धरि नारि के सम वेश ही,
शृङ्गार कर सित सेज पर, बैठो सँवारो केश ही।
खर खड्ग यह निज हाथ का, हृदयेश मुझ को दीजिए,
ये चूरियाँ मम हाथ की, निज हाथ धारन कीजिए॥
रणविज्ञता की हांक भरता, है घमण्डी जो सदा,
जिसके प्रबल आतंक से रहते सभय तुम सर्वदा।
उस दुष्ट अकबर को सुलादू, समर में सत्वर अभी,
सच मानिये क्षत्राणियां, नहीं प्राण भय करती कभी॥

वीरा की वीरतापूर्ण फटकार सुनकर महाराणाजी बहुत ही लज्जित हुए, वे कहने लगे—

हृदयेश्वरी! तव कथन मुझ को सर्वथा अति मान्य था,
पर शोक मेरा कर्म ही यों कर रहा अन्मान्य था।
पर अब प्रिये! यह वाक्य तेरा शीश पै निज धार के,
हूँ जा रहा यह शीश दे आऊँगा या रिपु मार के॥

महाराणा युद्ध में गये, किन्तु शाही सैनिकों के हाथ बन्दी हो गये। महाराणा के सेनापति विशेष रूप से घायल हो जाने

के कारण विना सेनापति के सेना युद्ध में न ठहर सकी। जब

वीरा ने सुना तो सब सैनिकों को धिक्कारने लगी। सैनिकों ने कहा—'मातेश्वरी! हम लोग युद्ध से भाग कर नहीं आये हैं। अतः ऐसे तिरस्कार पूर्ण वाक्य हमें क्यों सुना रही हैं? यद्यपि हम लोग लोहू से तर-चतर हैं, फिर भी यदि सेनापति हो; तो हम इस अवस्था में भी लड़ने के लिये कटिबद्ध हैं।'

वीरा ने कहा 'मैं सेनापति का पद ग्रहण करती हूँ तुम लोग तैयार हो जाओ।' घायल सैनिको को तैयार कर वीरा युद्ध करने चली। उस वीर क्षत्राणी की रण-पटुता, वीरता और अपूर्व साहस के सामने शाही सेना युद्ध-भूमि मे न ठहर सकी, उसके पाव उखड़ गये। वीराङ्गना वीरा फौज के आगे दोनों हातों से असि चालन करती हुई यवन सैनिकों को गाजर-मूली की तरह काटती हुई शाही सेना में घुस गयी। दोनों ओर का रास्ता साफ करती हुई जहाँ उदयसिंह बन्दी थे वहाँ पहुँची। बन्धन काट, घोड़े पर सवार करके बेघड़क दुर्ग में ले आई।

इतिहासकार टॉड ने लिखा है कि 'केवल वीरा की ही वीरता से चित्तौड़ की स्वाधीनता इस वार बच गयी।' उदयसिंह बहुधा कहा करते थे कि 'वीरा के ही कारण मेरा छुटकारा हो सका।' सरदार ऐसी बातें सुनकर लज्जा से शिर झुका लिया करते थे। अन्त में उन्होंने षड्यन्त्र रचकर वीरा को मरवा डाला। उसने अपने पति के लिए हँसते-हँसते प्राण दे दिये।

'वीरा' की विस्तृत वीरगाथा 'वीराङ्गना वीरा' में पढ़ें।

सुमति

क्षत्रियों की वीरता तो विश्व विख्यात है ही, क्षत्राणियों की वीरता भी उनसे किसी अंश में कम नहीं है। उनका रण-कौशल, सतीत्व-रक्षा, पतिव्रत पालन, देश-प्रेम और मातृभूमि की रक्षा के लिए किये गये विलक्षण बलिदान सराहनीय हैं, प्रशंसनीय है। उनकी गुणगाथाओं को पढ़ने से पाठकों के मस्तक श्रद्धा पूर्वक उनके चरणों में झुक जाते हैं। अन्वेषण और अध्ययन से पता चलता है कि देशद्रोही को मारना वे अपना पावन कर्तव्य समझती थीं, चाहे उनका पति ही क्यों न हो। उन्हीं वीराङ्गनाओं में से सुमति भी एक थी, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है।

सुमति, गढ़मंडल के सुयोग्य सेनापति सुमेरसिंह की बहिन थी और जागीरदार बदनसिंह को ब्याही थी। कुछ समयोपरान्त वह बागी हो गया था। अकबर से जब गढ़मंडल की महारानी दुर्गावती का युद्धारम्भ हुआ, तब इस बागी बदनसिंह ने अकबर को गढ़मंडल का सारा भेद बता दिया और रानी दुर्गावती की छाती में भाले से वार किया। रानी के घायल होकर गिरने पर उनके सिर पर बन्दूक की नाल से वार किया, सिर से रक्त-धारा बह चली।

होश में आने पर रानी दुर्गावती ने सुमति को उनके पति

बागी बदनसिंह की सारी करतूत कह सुनायी। सुनकर वह बहुत ही लज्जित और मर्माहत हुई, उसको हार्दिक दुःख हुआ।

असह्य पीड़ा के कारण महारानी पुनः मूर्च्छित हो गई। सुमति रोने लगी। सामने से अपने पति बदनसिंह को आते देख, सुमति क्रोध पूर्वक उठी और बोली—हैं, अब क्या अन्त समय में महारानीजी का अपमान करने की इच्छा हुई है? ठीक है, यही बात है। परन्तु जबतक मैं जीवित रहूँगी तबतक इसे पूरा न होने दूँगी। महारानीजी के छिन्न भिन्न कलेवर को कठोर वचनों और व्यंग्यबाणो से और अधिक छिन्न भिन्न न होने दूँगी। अपना सुहाग खोकर, अपने प्राण देकर महारानीजी को अपमान से बचाऊँगी।

यहा, क्या ही अच्छे लग रहे हैं। ये मेरे पतिदेव बदनसिंहजी आ रहे है। नही-नहीं, देश की स्वतंन्त्रता को विधर्मी विदेशियों के हाथ बेचने वाला साक्षात विश्वासघात, बड़ी ऐंठ मे चला आ रहा है। धिकार है, धिकार है, सहस्रबार धिकार है।

हे भगवन्! जैसा मैं चाहती थी, वैसा ही अवसर तूने कृपा पूर्वक मुझे दिया है। अब इतना बल और देने की कृपा कर कि मैं दृढ़ता पूर्वक अपने मन पर काबू रख सकूँ।

बदनसिंह ने सुमति की ओर बढ़कर कहा—प्यारी सुमति! सुमति ने गर्जकर उत्तर दिया—चल, हट, दूर हो, विश्वासघाती, देशद्रोही, कृतघ्न, नीच!

सुमति ने ईश्वर से प्रार्थना की कि हे भगवन्! दया कर,

दया कर; साहस दे। मैं जिस दृढ़ता के आसन पर बैठी थी,

वह मेरे नीचे से धीरे-धीरे खिसका जा रहा है। मुझे साहस दे, बल दे।

'चल, अपने रास्ते जा, देशद्रोह के पुतले! अपनी लगाई हुई आग में आप ही भस्म होजा' यह कहती हुई सुमति ने तमंचा तानकर बदनसिंह पर दाग दिया। बदनसिंह का प्राण पखेरू तत्काल उड़ गया, वह धम्म से पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सती रानी उर्मिला

स्वाधीनता-संग्राम में सर्वस्व की बलि देने वाली भारतीय नारियों की वीर-गाथाएँ सैकड़ों साल से हमारे रक्त में प्रवाह और भुजाओं में शक्ति उत्पन्न करती आ रही हैं। जिस समय एकाग्र चित्त से उनकी जलती चिताओं और सतीत्व-रक्षा की कीर्तिमयी कहानियां कहते-सुनते हैं, हमारे हृदयों में पवित्र भाव भर उठते हैं।

ग्यारहवीं सदी का अन्तिम चरण था, महमूद गजनवी हमलों पर हमले कर देव-मन्दिरों की पवित्रता पर गदाघात-कर रहा था। सोमनाथ का विशाल मन्दिर उसकी कुख्याति का

सजीव स्मारक-सा गुजराती की छाती पर खड़ा था। राजा जयपाल की रानियों का सतीत्व वातावरण में घोषणा कर रहा था कि हिन्दू-जाति म्लेच्छों को अपने पवित्र देश में कभी प्रश्रय नहीं देगी। इसी समय अजमेर का राजा धर्मगजदेव अपनी वीरता और न्यायपरता के लिये बाहर के देशों में भी प्रसिद्ध हो चुका था। उसकी रानी उर्मिला पतिभक्ति और सतीत्व की एक सजीव मूर्ति ही थी। वह अत्यन्त सुन्दरी और शीलवती थी। राजा को राज्य-प्रबन्ध में यथा शक्ति सहयोग देती थी। अचानक महमूद गजनवी ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया। राजा का अपराध केवल इतना ही था कि जिस समय म्लेच्छों ने सोमनाथ-मन्दिर की मूर्ति पर गदा-प्रहार किया, राजा ने मुसल्मानों से विकट युद्ध किया था। इसीका बदला लेने के लिये महमूद मौका देख रहा था।

ऐसे अवसर पर भारतीय नारियों ने नारी-धर्म का पालन किया, कन्याओं ने कन्याव्रत निबाहा, सारा-का-सारा राष्ट्र विदेशियों को देश से बाहर निकाल देने के लिये उठ खड़ा हुआ। रानी उर्मिला ने भी अपने वीर-हृदय का परिचय दिया। उसने राजा से कहा कि 'प्राणनाथ ! मैं भी आपके साथ रण में चलना चाहती हूँ। मेरा स्थान सदा आपकी बायीं ओर है।' राजा धर्मगजदेव रानी के इन उद्गारों से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सादर कहा, 'प्रिये ! तुम्हें रण में साथ ले चलने में मुझे आपत्ति नहीं है ; लेकिन मेरी अनुपस्थिति का यह जोरदार तकाजा है

कि अजमेर के प्रवन्ध के लिये मैं तुम्हें यहीं छोड़ दूँ।' रानी ने

भी राजा का संकेत समझ लिया और उसने फिर आग्रह न किया। उसने राजा को रण के लिये सहर्ष विदा किया।

रण-प्रस्थान का बाजा बज उठा। राजपूत ऐसी वीरता से लड़े कि शत्रुओं के छक्के छूट गये। एक यवन के तीर नें राजा को जीवन रहित कर दिया। उसके परलोक-गमन से राजपूत-सेना में भीषण हाहाकार मच गया। सायंकाल राजा का शव किले में लाया गया। नारियों ने शव पर पुष्प-वर्षा की। अन्त मे एक विशाल चिता तैयार की गयी। रानी ने अन्तिम कर्तव्य पालन किया। पति-पत्नी दोनों-के-दोनों एक ही साथ स्वर्ग चले गये। राजरानी उर्मिला के पातिव्रत-धर्म-पालन ने भारतीय नारियों के लिये सतीत्व का जीता-जागता आदर्श दिया है। स्त्रीत्व की कसौटी सतीत्व है।

वीराङ्गना कर्मदेवी

बात है उस समय की, जब मेवाड के राजा समरसिंह की पत्नी पृथा अपने पति के साथ सती हो गयी थी और उनकी दूसरी पत्नी कर्मदेवी नाबालिग पुत्र कर्ण की संरक्षिका, बनकर राज-काज सँभाल रही थ। मुहम्मद गोरी के सेनापति

कुतुबुद्दीन ने अपनी विशाल सेना लेकर वीरभूमि मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। उस समय उनकी शक्ति को रोकने की क्षमता किसी में नहीं थी। राजपूत चिन्तित हो गये।

'मेवाड़ की रक्षा कैसे होगी, मा!'—राजपूत-सरदार ने कहा।

'आज यह प्रश्न आपके मन में कैसे उठा, सरदार! आज मेवाड़ के राजपूतों में मातृभूमि की रक्षा करने के लिये प्रति क्षण बद्धपरिकर रहने और मर-मिटने वाले वीर राजपूतों का रक्त नहीं रह गया क्या?' राजमाता ने उत्तर दिया।

सरदार कहने लगे—'हम में सब कुछ है, माता। जीवन तो हमारा हथेली पर है। आपके भ्रू-संकेत पर राजपूतों की लोथें-ही-लोथें दीख जायँगी, पर महाराज की अनुपस्थिति में हमारा नेतृत्व कौन . . ? यही चिन्ता है, मा!'

'इसकी तनिक भी चिन्ता न करो, सरदार!' राजमाता ने जोश से कहा। 'उनकी वीर-पत्नी मैं अभी जीवित हूँ। मैं शत्रु-दल का संहार करने के लिये चण्डी बन जाऊँगी। जाओ, युद्ध की तैयारी करो।'

राजपूतों की धमनियों का प्रवाहित रक्त उष्ण हो उठा। क्षण भर में ही झूमती हुई राजपूत-सेना राजमाता के सामने आ डटी। प्रत्येक सैनिक के तन में, मन में, रोम-रोम में विश्वास,—शक्ति और विजय का दृढ़ विश्वास था।

पठानों के सामने आते ही कर्मदेवी अपने वीर सैनिकों के

साथ उन पर क्षुधार्त्त सिंहिनी की भाँति टूट पड़ी। मुसल्मान

गाजर-मूली की भाँति कटने लगे। समरभूमि में रक्त की सरिता प्रवाहित हो गयी। पराजित मुसल्मान लुकते-छिपते प्राण लेकर भागे। वीराङ्गना कर्मदेवी ने मेवाड़ पर आँच भी नहीं लगने दी।

जवाहरबाई

सोलहवीं सदी का पूर्वार्द्ध हिन्दुस्तान के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखता है। पठानों और मुगलों ने पूरे देश पर अपनी प्रभुता स्थापित करनी चाही थी। राजपूतों में भी महाराणा संग्रामसिंह ने वीरता और उत्साह भर दिया था कि यवनों को देश से बाहर निकालकर हिमालय से कन्याकुमारी और अटक से कटक तक हिन्दू-राज्य स्थापित किया जाय। शेरशाह बादशाह बनने का सपना देख रहा थ, हुमायूँ बाबर की वीरता और सम्मान अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये यत्नशील था। मेवाड़-कुल-सूर्य राणा संग्रामसिंह की मृत्यु के बाद चित्तौड़ की गद्दी पर उसका पुत्र विक्रमादित्य बैठा, जो विलासप्रिय और कायर था। गुजरात और मालवा के पठान शासकों ने उसकी शक्तिहीनता और कुप्रबन्ध से लाभ उठाकर चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण कर दिया, राजा हारकर भाग गया। मुसल्मान

नगर में घुसने लगे। राजपूत स्त्रियों ने 'जौहर' करने की

प्रतिज्ञा की। विपत्ति में राजपूत स्त्रियाँ अग्नि में आत्म-समर्पण करती हैं, इसे 'जौहर' कहते हैं। इस प्रथा ने समय-समय पर हिन्दुत्व और प्रधानतया क्षत्रियत्व की रक्षा की है। विक्रमादित्य की राजरानी जवाहरबाई ने राजपूतानियों से ललकार कर कहा, 'जौहर करने से नारी-धर्म का पालन अवश्य होगा, लेकिन देश-रक्षा नहीं हो सकती। मरना तो है ही, इसलिये विधर्मियों को मारकर मरना और उत्तम होगा। हाथ में खड्ग धारणकर शत्रुओं को अपनी तेजस्विता और वीरता का परिचय करा देना चाहिये।' क्षत्राणियों ने वीरता-पूर्ण वक्तृता सुनकर हुंकार किया, उनके गगन-भेदी सिंहनाद ने यवनों के कलेजे दहला दिये।

अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो अगणित वीराङ्गनाएँ घोड़ों पर चढ़कर महल से बाहर निकल पड़ीं। आगे-आगे राजपत्नी जवाहरबाई थी। इन स्त्रियों ने पठानों से जमकर युद्ध किया। खून की नदी बहने लगी। आततायी और विधर्मियों के छक्के छूट गये। 'हर-हर-महादेव' और 'एकलिङ्ग भगवान् की जय' बोलकर अन्त मे असंख्य वीर-वधुओं ने स्वर्ग की यात्रा की। वीराङ्गना जवाहरबाई ने रणस्थल में जूझते हुए ही स्वर्ग की यात्रा की। पठान विजयी हुए, परन्तु यह उनकी हार ही थी; स्त्रियों पर कायरता-पूर्ण ढंग से तलवार उठाकर विजय पाना वीरों का काम कदापि नहीं हो सकता। सती-साध्वी जवाहरबाई की वीर गाथा मेवाड़ और हिन्दुस्तान के इतिहास में अमिट है।

वीराङ्गना रानी दुर्गावती

जब हमें उन राजरानियों की याद आती है, जिनकी पोशाक खून से भीग गयी है, जिनके दाहिने हाथ में तलवार शत्रुओं का खून पीने के लिये लपलपा रही है, जो घोड़े पर सवार होकर रण में दानव-दलिनी दुर्गा की तरह दानवों के दमन मे व्यस्त है, तो हमारा सिर उनके पूज्य पाद-पद्मों पर आप-से-आप नत हो जाता है। रानी दुर्गावती इसी तरह की एक वीर-हृदया नारी थी, जिसने गढ़मण्डल के विकट रण मे यवनों के दांत रँग दिये। रानी दुर्गावती का चरित्र विलक्षण है; उसने अपनी वीरता, शक्ति और रण-कुशलता से अपने लिये इतिहास में वह स्थान बना लिया है, जो बड़े-बड़े वीरों को कठिन तपस्या करने पर भी नहीं मिलता।

रानी दुर्गावती महोबा के राजा की कन्या और गढ़मण्डल राज्य के अधिपति दलपतशाह की सहधर्मिणी थी। दक्षिण भारत मे गढ़मण्डल सोलहवीं सदी में एक छोटा-सा राज्य था, लेकिन साथ-ही-साथ अपने अपार वैभव और सम्पत्ति के लिये वह दूर-दूर के राज्यों मे भी महती ख्याति प्राप्त कर चुका था। थोड़े ही दिनों तक सुहाग-सुख भोगने के बाद दुर्गावती पर वैधव्य का वज्र टूट पड़ा; परन्तु उसने धैर्य तथा साहस से काम लिया। अपने प्यारे पुत्र नारायण की देख-रेख का भार उसने

अपने कन्धे पर लिया और बड़ी नीतिज्ञता और कुशलता से राज्य का प्रबन्ध किया। उसके खजाने की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। उसने पंद्रह साल तक निर्विघ्न राज्य किया। गढ़मण्डल का ध्वज आसमान का चुम्बन करता हुआ यवनों को चुनौती दे रहा था कि जब तक दुर्गावती की भुजाओं में बल है, उसके हात में तलवार है, गढ़मण्डल किसी की भी अधीनता स्वीकार नहीं करेगा। रानी की सेना अत्यन्त सुसंगठित थी, उसमें भील अधिक संख्या में थे।

इस समय भारत का सम्राट् अकवर था। उसे अब तक भारत की सार्वभौम सत्ता प्राप्त नहीं हुई थी। हुमायूँ को स्वर्ग गये केवल कुछ ही साल वीते थे कि अकवर को अपने खोये साम्राज्य को फिर जीतने की सनक सवार हुई। राजपूत रियासतों को अपने पक्ष में लाने के लिये वह तरह-तरह की योजनाएँ वना रहा था। राजपूताने की वहुत-सी रियासतें उसके कपट-जाल में पड़ चुकी थीं, उनकी स्वाधीनता का अपहरण हो चुका था। अकवर सुदूर प्रान्तों पर विजय करने के लिये सेनाएँ तैयार कर रहा था; लेकिन प्रश्न यह था कि रुपया कहाँ से आये। इसके लिये गढ़मण्डल राज्य ही लक्ष्य बनाया गया। उसके आदेश से सेनापति आसफखाँ एक बहुत बड़ी सेना लेकर चल पड़ा। उस समय गढ़मण्डल अनाथ था। रानी विधवा हो चुकी थी, फिर भी वीर रानी दुर्गावती ने आश्चर्यजनक पराक्रम दिखलाकर दुश्मनों की शान मिट्टी में मिला दी।

तीर लगा आ आँख में, सम्मुख सैन्य अपार।
दुर्गा-सी दुर्गावती करती शत्रु-सँहार॥

[पृष्ठ—२०]

यद्यपि वह हार गयी, फिर भी यह उसकी जीत ही थी। नारायण भी अठारह साल का हो चुका था। मा और बेटे ने जमकर युद्ध किया। रानी मुगलों के आक्रमण से तनिक भी विचलित न हुई। उसने बहादुर सैनिकों से कहा—'देश पर मर-मिटने वाले वीरो! तैयार हो जाओ, आज तुम्हारी जन्म-भूमि विपत्ति की सूचना पाकर क्रन्दन कर रही है। उसकी स्वाधीनता की रक्षा करना तुम्हारा परम धर्म है। तुम दुश्मनों को दिखला दो कि जब तक एक भी राजपूत जीता रहेगा, तब तक गढ़मण्डल पर मुगलों का शासन नहीं हो सकेगा। मैं जीते-जी गढ़मण्डल में शत्रुओं को पैर न रखने दूँगी। वीरो! चलो मेरे साथ गढ़मण्डल की कीर्ति अमर करने। शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अथवा रणयज्ञ में प्राणों की आहुति देकर अक्षय यश और दुर्लभ स्वर्ग-सुख प्राप्त करो।'

राजपूत सैनिकों की नसों मे बिजली दौड़ गयी। आँखों से चिनगारियाँ फूटने लगीं। रानी ने कहा—'माना, यवनों की शक्ति बर्बरता की सीमा पार कर चुकी है; आततायीपन का नंगा नाच आरम्भ हो गया है। बाबर के वंशज ने विधवा की रियासत पर हमला बोल दिया है। परन्तु जिस समय तुम लोग रण में कूद पड़ोगे, एक-एक हिन्दू वीर सैकड़ों यवनों को मार भगायेगा। यदि तुम सच्चे वीर हो और निस्सन्देह तुम सच्चे वीर हो ही, तो तुम अपनी इस वीर माता की सहायता करो।'

रानी के 'जयनाद' से आकाश गूँज उठा। सैनिक मुगल-

सेना पर टूट पड़े, गाजर-मूली की तरह काटते हुए उन्होंने दो बार मुगलों को हराया। आसफखाँ ने कूटनीति से काम लिया। गढ़मण्डल के ही एक पातकी सैनिक को काफी घूस देकर उसने अपना काम बना लिया!

दुर्गावती साक्षात् रणरंगमयी भवानी दुर्गा की तरह लड़ाई के मैदान में शत्रु-सेना का विनाश करने लगी। उसके तेज बाण दुश्मनों को मटियामेट करने लगे। परन्तु मुट्ठी भर राजपूत अधिक देर तक विशाल मुगल-सेना के सामने न ठहर सके। रानी घायल हुई, उसकी बायीं आँख में आकर अचानक तीर लगा। निकालने का प्रयत्न करने पर भी नहीं निकला। फिर भी वह वीराङ्गना लड़ती रही। थोड़ी ही देर में सारी राजपूत-सेना में हाहाकार मच गया। वीर पुत्र नारायण, रानी के नयनों का तारा, जो रानी के हाथी के बगल में घोड़े पर सवार होकर मुगलों से लोहा ले रहा था, दुश्मन के एक बाण से चल बसा। साध्वी रानी पुत्र-वियोग में कर्तव्य-पथ से विचलित न हुई। उसने लड़ाई जारी रक्खी। पुत्र का शव उसकी आँखों के सामने से दूर हटा लिया गया। परन्तु सहनशक्ति की भी सीमा होती है, रानी बुरी तरह घायल हो गयी। आँखों तले अँधेरा छा गया। जब विजय की कोई आशा नहीं रह गयी, तब देखते-ही-देखते उस वीराङ्गना ने कमर से कटार निकाल कर अपनी छाती में भोंक ली। शत्रु तमाशा देखते रह गये। कितना महान् पराक्रम और सतीत्व का बल उसे प्राप्त था, इसका

निर्णय इतिहासकार भी नहीं कर सके। रानी रणगङ्गा में अवगाहन करके पवित्र हो गयी।

गढ़मण्डल पर अकबर का आधिपत्य हो गया। दिल्ली का खजाना रत्नों, मोतियों और हीरों से भर गया; लेकिन दुर्गावती-रत्न पर यवनों का अधिकार न हो सका।

वीरकन्या ताजकुँवरि

'क्यों वहिन! तू कहती है कि तू मुझ से अधिक पठानों का वध कर सकेगी!' एक शस्त्रसज्ज युवक ने पूछा।

'निश्चय!' कुमारी भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी। दोनों मिलती-जुलती आकृति के अत्यन्त सुन्दर थे। घोड़े पर चढ़कर वे आखेट के लिये वन में आये थे।

'काफिर! जबान सम्हालकर बोल!' झाड़ी में से एक कर्कश-ध्वनि आयी और दो बड़े-बड़े पत्थर युवक के घोड़े की गर्दन को स्पर्श करते हुए पड़े। दोनों एक क्षण के लिए चकित रह गये।

'भाई! देखना है, किसकी तलवार अधिक शत्रु-वध करती है।' कुमारी ने प्रोत्साहन दिया।

'देख लेना!' कुमार ने ललकारा। 'राजपूत को काफिर कहने वाला तू है कौन? अभी तक कभी क्षत्रिय से काम नहीं पड़ा है।' कुमार ने झाड़ी में घोड़ा ठेल दिया। कई पठान निकल पड़े। वे छिपे हुए थे। कुमार की तलवार चमकी। चार-पांच सिर भूमि पर आ पड़े। कुमारी ने देखा, वह घाटे में रहेगी। उसने भाला उठाया और कइयों को बींध कर रख दिया। दो प्राण बचाकर भाग गये।

कानपुर के समीप गङ्गा किनारे किसोरा राज्य था। अब तक इस राज्य ने दिल्ली के सम्मुख सिर नहीं झुकाया था। वहाँ के नरेश सज्जनसिंह ने आखेट से लौटने पर जब राजकुमार लक्ष्मणसिंह तथा राजकुमारी ताजकुंवरि से उनकी वीरता का समाचार सुना तो वे आनन्द-मग्न हो गये। बड़े यत्न से उन्होंने पुत्र तथा पुत्री को अश्व-संचालन एवं शस्त्रविद्या की शिक्षा दी थी। पुत्री ताजकुंवरि के शस्त्र-कौशल पर उन्हें गर्व था। एक बार ताजकुंवरि ने स्वयं सैन्य-संचालन करके मुस्लिम-सैन्य को परास्त किया था। उस समय एक हाथ में चमकता भाला और दूसरे में रक्तसना खड्ग लिये रक्त से लथपथ कुमारी घोड़े पर बैठी जब नगर-द्वार में विजयीनी होकर प्रविष्ट हुई तो नागरिकों को लगा कि साक्षात् महिषमर्दिनी भगवती सिंह-वाहिनी दुर्गा उपस्थित हैं।

भागे हुए पठानों ने दिल्ली समाचार दिया। बादशाह तो किसी बहाने किसोरा पर अधिकार करना चाहता ही था।

उसने ताजकुंवरि के सौन्दर्य की प्रशंसा सुन रक्खी थी और उसे पाने को भी उत्सुक था। दिल्ली से पत्र आया—'तुम्हारी पुत्री ने अकारण पठानों को मारा है, अतः उसे चुपचाप हमारे पास भेज दो। ऐसा न करने पर किसोरा-राज्य मिट्टी में मिला दिया जायगा।'

पत्र पढ़कर महाराज सज्जनसिंह तथा सभासद् उबल पड़े। बादशाह को उत्तर मिला—'राजपूतों के भाले अपनी बहू-बेटियों की ओर कुदृष्टि करने वालों के नेत्रों मे घुस जाने को उठे ही रहते है। किसोरा कोई मिठाई नहीं, जो बादशाह गटक लेंगे। वे आवें, हमारे हाथों में भी तलवारें है। आततायियों के वध में मेरी पुत्री ने कोई अन्याय नहीं किया।'

बादशाह की सेना ने आक्रमण किया। छोटा-सा-राज्य और दिल्ली की विशाल वाहिनी। कहाँ तक सामना होता। नगर-द्वार टूट गये। महाराज सज्जनसिंह सम्मुख युद्ध में युद्ध करते हुए खेत रहे। यवन-सेना नगर में फैल गयी। यवन-सेनापति ने देखा कि एक बुर्ज पर से दो राजपूत उसकी सेना पर अनवरत बाण-वृष्टि कर रहे है। उसने देखते ही समझ लिया कि वे राजकुमार एवं राजकुमारी हैं। उसने संकेत करके सैनिकों से कहा—'चाहे जैसे हो, इन्हें जीवित पकड़ लो।'

वाक्य पूरा होने के पूर्व ही एक बाण लगा छाती में और सेनापति-लुढ़क गया। सेनापति को अपनी ओर संकेत करते देख ताजकुंवरि ने शर-सन्धान किया था। मुसल्मान-सैनिक

अत्यन्त रुष्ट हो गये। उन्होंने मिलकर बुर्ज पर धावा किया।

उन्हें समीप आते देख ताजकुंवरि ने भाई से कहा—'भैया! बहिन की रक्षा करो!'

'बहिन! अब क्या रक्षा सम्भव है?' कुमार लक्ष्मणसिंह का कण्ठ भर आया।

'छिः! राजपूत होकर रोते हो! शरीर की नहीं, बहिन के धर्म की रक्षा करो!' ताजकुंवरि ने भाई को झिड़का।

'करूंगा, बहिन!' भाई ने तलवार खींची और यवन-सैनिकों के समीप आने से पूर्व ही अपने हाथों उस सुन्दर प्रतिमा के दो टुकड़े कर दिये। अब महारुद्र के सदृश लक्ष्मणसिंह से यवनों को काम पड़ा। शरीर में प्राण रहने तक उन्होंने युद्ध किया और जब वे गिरे तो बुर्ज पर आक्रमण करने वाले भाग रहे थे। अन्त तक बहिन के पवित्र शरीर को उन्होंने विधर्मियों के स्पर्श से बचाया।

सती करुणावती

महारानी करुणावती चित्तौड़ के महाराणा संग्रामसिंह की छोटी रानी थी, उसकी तेजस्विता और वीरता का बखान चारण और बन्दीजन घूम-घूम कर सारे राजपूताने में कर रहे थे। महाराणा का स्वर्गवास होने पर राजकुमार विक्रमादित्य और

रत्नसिंह मे युद्ध छिड़ गया; परन्तु कालान्तर में ही बूँदी के राजकुमार सूरजमल और रत्नसिंह में आँवेर की राजकन्या के पाणिग्रहण के लिये विकट संग्राम हुआ, जिसमें राजकुमार रत्नसिंह मारा गया। राज्यसिंहासन पर विक्रमादित्य का ही आधिपत्य रहा, पर वह निकम्मा और कायर था। मेवाड़ के शासन की अव्यवस्था का लाभ उठाकर गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर छापा मारा। विक्रमादित्य में इतनी शक्ति तो थी नहीं कि वह बहादुरी से सामना करे; और इधर असन्तुष्ट सैनिक बहादुरशाह से जा मिले। राज-माता करुणा-वती ने उन विद्रोही सैनिकों को बहुत फटकारा। सैनिकों के हृदय पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने करुणावती के सामने अपनी नंगी तलवारों की शपथ लेकर कहा कि 'हम जीते-जी यवनों को चित्तौड़ में प्रवेश नहीं करने देंगे।' 'महारानी इनके सञ्चालन' और सेनापतित्व का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेकर रणभूमि में काली की तरह कूद पड़ी और तलवार को यवनों का खून पिलाकर उसने उन्हें महावर की लता के समान इधर-उधर फेंक दिया। कई दिनों तक खण्ड-युद्ध होता रहा। बहादुरशाह की विशाल सेना काफी संख्या मे मारी गयी और घायल हुई। पर धीरे-धीरे राजपूतों के भी पैर उखड़ने लगे।

अन्त में राजपूत सरदारों ने उस राजपूत बाला से कहा कि किले की कुंजी बहादुर के पास भेज दी जाय। यह सुनकर रानी क्रोध से पागल हो गयी और उसने उन कायर सरदारों

से कहा कि 'राजपूतो को इस तरह के वचन कभी नहीं कहने चाहिये। शेर खरगोशों के सामने कभी सिर नहीं झुका सकता। राजपूत शरीर में रक्त रहते शत्रु के सामने कभी आत्म-समर्पण नहीं करते।'

राजपूत शान्त हो गये। किसी को साहस नहीं हुआ कि वह महारानी का प्रतिवाद करे। इसी समय मुगलों और पठानों में युद्ध छिड़ गया था। दिल्ली के सिंहासन पर हुमायूँ का अधिकार था। रानी करुणावती ने मुगल-सम्राट् को अपना 'राखीबन्धु' बनाना चाहा। जिसे राजपूत स्त्रियाँ राखी भेजकर अपना भाई बनाती थीं, वह अपने को सौभाग्यशाली और गौरवान्वित समझता था। हुमायूँ उन दिनों अपने प्रतिद्वन्द्वी शेरशाह से बंगाल में निपट रहा था। राखी पाते ही हुमायूँ बंगाल की लड़ाई स्थगित कर चित्तौड़ की ओर चल पड़ा, पर उसके चित्तौड पहुँचने के पहले ही चित्तौड़ का सर्वनाश हो चुका था। किले पर पठानों का झंडा फहरा रहा था।

हुमायूँ की प्रतीक्षा में कई दिन बीत गये। पठानों का दब-दबा बढ़ता जा रहा था। तब रानी ने राजपूतों से ललकार कर कहा कि 'आप केसरिया बाना पहनकर रण में कूद पड़ें और हम स्त्रियाँ अग्नि की गोद में अपने-आपको समर्पित कर स्वर्ग में आप से आ मिलेंगी। वीर राजपूत दुश्मनों पर टूट पड़े। भयंकर मार-काट मच गयी। इधर राजपूत वीर शत्रुओं के प्राणों से खेल रहे थे और उधर वीर क्षत्राणी करुणावती तेरह

हजार क्षत्राणियों के साथ जौहर की ज्वाला में कूद पड़ीं। रानी

ने चिता पर बैठकर कहा कि 'क्षत्राणियों को सतीत्व और धर्म पर आपत्ति आने पर सदा इसी-पथ का अनुसरण करना चाहिये।'

थोड़ी ही देर में जौहर की ज्वाला ने सब को अग्नि रूप बना लिया! बहादुरशाह ने नगर में प्रवेश किया, वहाँ राख और हड्डियों के सिवा और कुछ नहीं था। इतने में हुमायूँ भी पहुँच गया; उसने बहादुर पर आक्रमण किया और हराकर अपनी धर्म स्वरूपा बहिन की मृत्यु का बदला चुकाया। फिर भी वह दुखी था कि बहिन की रक्षा न कर सका।

रानी सोनगरी

सम्राट् मुहम्मद तुगलक ने चित्तौड़ का किला जीतकर राव मालदेव को सौंप दिया। महाराणा लक्ष्मणसिंह के पाटवी पुत्र अरिसिंह एक दिन केलवाड़ा जिले की पश्चिमी पहाड़ियों की तरफ शिकार खेलने को गये। वहाँ पर देखा कि एक जवान कृषक-कन्या अपने पिता के जवार के खेत की रखवाली कर रही है। एक सूअर अरिसिंह के हाथ से घायल होकर उसके खेत में जा घुसा। अरिसिंह भी घोड़े सहित उसके पीछे खेत में घुसने लगा, लड़की ने उनसे विनम्र भाव से अर्ज की कि आप

खेत मे घोड़ा डालकर जवार न बिगाड़ें, मैं सूअर को निकाल देती हूँ। उसने लाठी से सूअर को सहज ही मे बाहर निकाल दिया। लड़की का विलक्षण-बल देखकर अरिसिंह को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे वहाँ से कुछ दूर चलकर किसी आंबे के वृक्ष की छाया में जा बैठे। इतने में उसी लड़की ने किसी जानवर पर गोफन चलाया, अचानक वह गोफन का पत्थर अंब-वृक्ष के नीचे खड़े हुए अरिसिंह के अश्व को जा लगा और घोड़े का पैर टूट गया। लड़की ने अरिसिंह से बहुत नम्रता के साथ क्षमा-याचना की, अरिसिंह ने कृषक-कन्या को निर्दोष जानकर क्षमा दे दी।

शिकार खेलकर वापस लौटते समय मार्ग में फिर वही कृषक-कन्या मिली—सिर पर दूध की गागर रक्खे और दो भैंसों के बच्चों को अपने साथ काबू मे किये हुए लिये जा रही थी। उनकी ताकत को इस तरह रोके हुए थी कि दुग्ध-भरी गागर छलकने न पावे। अरिसिंह उस कृषक-बाला का विलक्षण विक्रम देखकर, आश्चर्य चकित और मुग्ध हो गये। कृषक-कन्या से पूछा कि 'तू किस की पुत्री है ?' उसने उत्तर दिया कि 'मैं चन्दाणा राजपूत की कन्या हूँ।' राजकुमार ने दिल में सोचा कि यदि इस लड़की से कोई औलाद पैदा हो, तो वह निःसन्देह बड़ी बलवान होगी। उन्होंने उसके पिता को बुलाया और शादी का प्रस्ताव किया। चन्दणा राजपूत ने श्रेष्ठ सम्बन्ध जानकर सहर्ष स्वीकार कर लिया। अरिसिंह ने विवाह करके

उसे उसी ऊनवा गांव में ही रक्खा, क्योंकि उनको अपने पिता की तरफ से इस बात का भय था कि ग्रामीण राजपूत के यहां शादी क्यों की। लेकिन शिकार के बहाने से वे वहां कभी-कभी आ जाया करते थे। ईश्वर-कृपा से उस चन्दाणी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम हम्मीरसिंह रक्खा गया।

जब मुहम्मद तुगलक की लड़ाई में लक्ष्मणसिंह और अरिसिंह आदि मारे गये तब चन्दाणी रानी अपने पुत्र हम्मीरसिंह सहित ऊनवा गांव में मुसलमानों के भय से हम्मीरसिंह को छिपाये हुए ग्रामीण लोगों की तरह दिन काटने लगी।

अरिसिंह के पास रहे हुए किसी व्यक्ति से अरिसिंह के लघु भ्राता महाराणा अजयसिंह को पता लगा कि हम्मीरसिंह ऊनवा गांव में है। महाराणा ने हम्मीरसिंह को बुलाया। उस समय उसकी उम्र १३—१४ वर्ष की थी, किन्तु था बड़ा पराक्रमी। महाराणा ने उसको बड़ा पराक्रमशाली देखकर प्रसिद्ध लुटेरा मूजा को मारने की आज्ञा दी। चाचाजी की आज्ञा सिरोधार्य कर हम्मीर केलवाड़े से रवाना हुआ और मूजा का सिर लाकर महाराणाजी को भेंट किया। महाराणाजी हम्मीर का विक्रम देखकर परम प्रसन्न हुए और अपनी तलवार उसे देकर मूजा के सिर के रक्त से उसके मस्तक पर तिलक कर दिया और कहा कि हमारे पाटवी बनने और चित्तौड़ लेने के योग्य तुम ही हो एवं हमारे बड़े भाई अरिसिंह की औलाद होने के नाते हक भी तुम्हारा ही है।

महाराणा हम्मीर ने गद्दी बैठते ही अपने मुल्क के सब रास्ते घाटे व नाके वगैरह बन्द करके मेवाड़ की प्रजा को बस्ती छोड़कर पहाड़ों में रहने की आज्ञा दी। महाराणा की आज्ञा का प्रजा के चित्त पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि कुल मेवाड़ देश विरान होकर अपने मालिक की रक्षा में जा बसा।

मेवाड़ के विरान हो जाने और मुल्क की आमदनी नाश हो जाने के कारण मालदेव खर्च से तंग आकर अपने मौरुसी ठिकाने जालोर में चला गया और किले की रक्षा के लिए कुछ फौज छोड़ गया।

हम्मीरसिंह ने चित्तौड़ लेने के लिए बहुत-से हमले किये। किन्तु चित्तौड़-दुर्ग हाथ न आया। बिना आमदनी के महाराणा को बहुत कष्ट झेलने पड़े, यहाँ तक कि नियमित भोजन भी न मिलने लगा। कष्ट से तंग आकर सब लोग खिसक गये, केवल थोड़े से शुभचिन्तक ही महाराणा के पास रहे।

सफलता से निराश होकर महाराणा अपने शुभचिन्तकों सहित द्वारकापुरी की ओर रवाना हुए और गुजरात के खोड़ गाँव में जाकर ठहरे। वहाँ बरवड़ा चारण की बेटी-बरवड़ी की बड़ी प्रसंशा सुनी तब महाराणा उसके दर्शन करने गये।

महाराणा को बहुत चिन्तातुर देखकर बरवड़ी ने कहा कि 'हे वीर! तुम वापस केलवाड़े लौट जाओ, तुम को चित्तौड़ गढ़ मिलेगा। यदि तुम्हारी कोई सगाई आवे तो इन्कार मत करना, उसी सम्बन्ध के जरिये तुम को तुम्हारा मुल्क वापस मिलेगा।

बरवड़ी के करामाती वचनों से महाराणाजी पूर्ण प्रभावित होकर वापस केलवाड़े लौट आये।

ईश्वर को बरवड़ी की भविष्य वाणी सत्य करना मंजूर था। इसलिए उसी समय राव मालदेव के मुसाहिबों ने राव से कहा कि आपकी लड़की विवाह योग्य हो गई है, यदि आज्ञा हो तो हम एक राज्य क्रिया काम में लाने की अर्ज करें। राव के आज्ञा देने पर उन लोगों ने कहा 'आपको बादशाह ने मेवाड़ का मुल्क दिया है वह केवल नाम के लिये है, क्योंकि जब तक महाराणा हम्मीरसिंह और उनकी औलाद कायम रहेगी तब तक आपको उस मुल्क से एक कौड़ी का भी फायदा न होगा और ऐसी हालत में व्यर्थ खर्च से जेरबार होकर केवल किले को रख-वालना एवं अपनी बहादुरी के बट्टा लगाना है। यदि हमारी सलाह स्वीकार हो तो आपकी लड़की की शादी महाराणा हम्मीर-सिंह के साथ करके पश्चिमी मेवाड़ का जो बिल्कुल विरान, कम उपजाऊ और विकट पहाड़ी हिस्सा है, गुजारे के लिए उनको दे दिया जावे ; ताकि उनको भी सन्तोष हो जाय। बाकी आबाद मुल्क अपने कब्जे में रखकर फायदे की सूरत करें।' मालदेव को यह बात पसन्द आ गई। महता जूहड़ व पुरोहित जयपाल दोनों को टीके का बहुत-सा सामान देकर केलवाड़े भेजे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने महाराणा से मालदेव का सन्देश कहा। बहुत युक्ति से निवेदन किया कि आपके पूर्वजों को मुसलमानों ने मारा है, मालदेव ने नहीं। आपका मुल्क राव

के कब्जे में अवश्य है, सो अब वे अपनी कन्या और कुछ जमीन आपको देना चाहते हैं। आपको चाहिये कि आप उन्हें स्वीकार करें। महाराणा ने पहले तो ऊपरी दिल से इन्कार किया, लेकिन फिर बरवड़ी के वचनों को याद करके स्वीकार कर लिया। रिवाज के अनुसार उसने टीके का नारियल झेल लिया।

महता जुहड़ और पुरोहित जयपाल के विशेष आग्रह से महाराणा ने बरवड़ी के पुत्र बारू बारहठ के लाये हुए घोड़ों पर सवार होकर जालोर की तरफ प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर नियमानुसार विवाह-कार्य सम्पन्न किया।

- महाराणी सोनगरी बड़ी बुद्धिवान थी। उसने महाराणा से अर्ज की कि 'यदि आपकी इच्छा चित्तौड़ लेने की है, तो मेरे पिता के कामदार महता मौजीराम को पिताजी से माँग लें। वह-बड़ा ईमानदार और बुद्धिवान् है।'

महाराणा ने रानी की हितकर सलाह मानकर ससुर से मौजीराम को मांग लिया। महाराणा के स्नेह भरे वचनों को सुनकर मालदेव ने महता मौजीराम को महाराणा के सुपुर्द कर दिया।

मौजीराम ने महाराणा से कहा 'कि जिस काम के लिए आपने राव से मुझे मांगा है वह काम करना यदि स्वीकार हो, तो यही सर्वोत्तम अवसर है।' महाराणा ने फरमाया कि अब हमारा सब भरोसा तुम्हारे ऊपर है, जैसा कहोगे वैसा करेंगे। यह सुनकर मौजीराम ने प्रकट रूप से कहा कि अमुक जगह

शेर की खबर है। महाराणा अपने राजपूतों सहित घोड़ों पर

सवार हो, शिकार के बहाने से रवाना हुए और तीसरे दिन आधी रात के समय चित्तौड़-दुर्ग के दरवाजे पर पहुँचे। महता मौजीराम ने आगे बढ़कर किले वालों को आवाज दी कि 'किवाड़ खोलो मैं मौजीराम हूँ।' महता मौजीराम फौज को वेतन चुकाने को आया करता था इसलिये आवाज पहिचानकर किले वालों ने दरवाजा खोल दिया। द्वार खुलते ही महाराणा अपने राजपूतों सहित किले में दाखिल हुए। मुकाबला करने वाले राव के कुल आदमी मारे गये, शेष बचे वे भाग गये। महाराणा ने किले पर अपना झण्डा फहरा दिया।

महाराणा के शिकार की एक दिन प्रतीक्षा करने के बाद राव मालदेव को पता लगा कि वे चित्तौड़ की तरफ गये हैं। अतः वह अपनी फौज और पांचों पुत्रों सहित चित्तौड़ के लिए रवाना हुआ। दोनों मे जमकर लड़ाई हुई, आखिर मालदेव पराजित होकर जालोर लौट आया।

पराजित मालदेव, बादशाह मुहम्मद तुगलक के पास पुकार करने गया। मुहम्मद तुगलक ने मय लश्कर के मेवाड़ पर चढ़ाई की। महाराणा हम्मीरसिंह ने ऐसा जबर्दस्त आक्रमण किया कि बादशाह को पराजित करने के साथ उन्हें बन्दी भी बना लिया। बादशाह मुहम्मद तुगलक तीन महीने कैद रहने के बाद अजमेर, रणथम्भोर और शिवपुर के जिले तथा पचास लाख रुपये नकद एवं १०० हाथी देकर कैद से छूटा।

महाराणा हम्मीरसिंह बड़े तेजस्वी और अतुल पराक्रमशाली

थे। उस समय हिन्दुओं को यवनों के अत्याचार से बचाने वाले वे ही थे और वे ही हिन्दुओं के संरक्षक थे। हम्मीर की माता बड़ी वीर-हृदया थी। वीर-माता की सन्तान वीर ही होती है।

महाराणा हम्मीरसिंह के पराक्रम-प्रशंसा में कवि की उक्ति—

लंका लेन काज रामचन्द्र को सराहौं पर,
वो तो अवतार रह्यो सोडस कलान को।
भारत विजय धर्मराज की सराहौं पर
जाके गहैं हाथ पूर्ण कृष्ण भगवान को।
धन को अभाव अरु भटन अभाव बहु,
केवल अभाव नहीं कुल-अभिमान को।
आपने भुजन मेदपाठ को उबार लीनो,
पुरुषार्थ अतुल हमीर महारान को॥

चित्तौड़ विजय करने में रानी सोनगरी का बड़ा हाथ था। सच्चे पति-प्रेम और देश-प्रेम में भारत की नारियों का सर्वोच्च स्थान है।

वीराङ्गना हाडीरानी

चित्तौड़ के सिंहासन पर राणा राजसिंह आसीन थे। बादशाह औरंगजेब ने रूपनगर की राजकन्या चारुमती (चञ्चलकुमारी) से जबरन विवाह करना चाहा। राजकुमारी चारुमती ने चित्तौड़ के महाराणा के पास पत्र भेजा कि 'क्या राजसिंह सीसोदिया-कुल-भूषण के जीते-जी राजहँसिनी का गिद्ध से विवाह होगा?

पटरानी, मन्त्री, सेनापति और वृद्धराज-कवि की प्रेरणा से महाराणा विवाह करने के लिए वचनबद्ध हो गये और शूरवीर सरदार सलूबर के रावत रत्नसिंह चूँडावत के यह कहने पर कि 'जब तक आप राठौड़-कन्या का पाणिग्रहण कर उदयपुर लौट न आयेंगे, मैं शाही सेना को मार्ग में ही रोके रक्खूँगा,' वे एक सुसज्जित सेना लेकर रूपनगर की ओर चल पड़े।

रावत रत्नसिंह ने राजधानी में युद्ध का डंका बजवा दिया, क्षत्रिय मारने-मरने को तैयार हो गये। रण के लिए प्रयाण करने के पूर्व महाराणाजी से आज्ञा लेकर वह एक दिन के लिये अपने गाँव सलूबर आया। रात्रि के समय जब शयनागार में गया तो हाडीरानी ने पति का हार्दिक स्वागत किया।

सरदार चूँडावत ने राजकुमारी चारुमती के अनुनय-विनय युक्त पत्र का विधिवत् वर्णन रानी को सुनाया। वृद्ध राज-कवि

बारहठ ने जो प्रेरणादायक हृदयवेधी वाक्य महाराणा को सुनाये थे, उसका भी पूरा वर्णन किया और औरंगजेब को मार्ग मे ही रोक रखने का भार उसने अपने ऊपर लिया है, यह भी रानी को बताया। रानी सब वृत्तान्त सुनकर परम प्रसन्न हुई। उसने कहा 'आरतवन्त चारुमती का उद्धार करना महाराणाजी का परमावश्यक कर्तव्य है। सौभाग्य से आपको भी सर्व-श्रेष्ठ अवसर प्राप्त हुआ है—चारुमती के उद्धार कार्य मे सहायक बनकर स्वामीका कार्य करना।' मुझे पूर्ण आशा है कि 'आप विजयी होकर सकुशल लौटेंगे और महाराणाजी से सम्मान प्राप्त करेंगे।' रत्नसिंह ने कहा—'सुनने मे आया है, यवन सेना बहुत अधिक है। अतः विजय तो अनिश्चित है किन्तु मृत्यु अनिश्चित नहीं। रानी ने उत्तर दिया कि 'कोई चिन्ता की बात नहीं, क्या सिंह-गर्जन के सामने गज-समूह ठहर सकता है? आप शुभ कामना रखकर अपना कर्तव्य निभाहिए। मेरी ओर से आप निश्चित रहें। मुझे अपना कर्तव्य भली भाँति ज्ञात है, मैं अपने कर्तव्य को क्षण भर के लिये भी नहीं भूलती।'

ब्रह्म मुहूर्त्त मे उठकर रत्नसिंह ने अपना नित्य नियम किया और अपने सवारों और पैदल सैनिकों को कूच करने का आदेश दिया। भोजन करके वह शस्त्र-सज्जित हुआ। रानी ने स्वयं अपने हाथों से स्वामी की कमर में खड्ग बाधी। पति का वीर-वेश देखकर रानी परम आह्लादित हुई, अभिमान करने लगी। चूँडावत सरदार ने रानी से अन्तिम विदाई ली। रानी ने

प्रेम पूर्वक अपने हाथ से स्वामी के मुँह में पान दिया। दो-एक सीढ़ी उतर उसने मुड़कर रानी से कहा—'तुम अपने कर्तव्य को भूल मत जाना' रानी ने आंख के इशारे से उत्तर दिया कि 'निश्चिन्त रहिये।'

सीढ़ियों से उतरकर सरदार अपने घोड़े के समीप आया। रानी की अनुचरी 'रंगवेल' एक थाल मे दही दूब और नारियल लिये शकुन देने के लिए वहां खड़ी थी। सरदार की दृष्टि उन शकुन-द्रव्यों पर पड़ी। उसने शकुन मनाकर 'रंगवेल' से कहा—तू हाडीरानी से जाकर कह कि 'तू अपने कर्तव्य को निरन्तर याद रखना!' रानी का उत्तर लाकर मुझे शीघ्र दे। मैं उत्तर की प्रतीक्षा मे तब तक यहीं खड़ा रहूँगा।

'रंगवेल' दौड़कर रानी के पास गई, उसने चूँडावत की कही हुई बात रानी से कह दी। रानी ने सोचा स्वामी का मन मेरे मोह मे अलझ गया है, मेरे सती होने मे उन्हे सन्देह है। कहीं ऐसा न हो कि स्वामी मेरे ही कारण युद्ध से विमुख हो जायँ या रण से कायर की तरह भाग खड़े हों। ऐसा होने से मेरा मरना निश्चित है और यदि वीर गति प्राप्त हुए, तो भी मेरा मरना निश्चित ही है। जब दोनों ही अवस्था मे मरना सुनिश्चित है, तब इसी समय अपना सिर काटकर स्वामी के हाथों मे क्यों न अर्पण कर दूँ। ऐसा करने से उनका सन्देह दूर हो जायगा और वे द्विगुण उत्साह से लड़कर विजय प्राप्त कर सकेंगे।

रानी ने 'रंगवेल' से कहा 'तू मेरी शिशुकाल की चिरसंगिनी

है। मैं अपना सिर काटती हूँ, तू उसे थाल मे झेल ले। मैं तेरा

यह अन्तिम अहसान मानूँगी।' रंगवेल सुनकर सहम गई, स्तम्भित हो गई; उसने स्वीकार नहीं किया। रानी ने क्रोधित होकर कहा—'तू नहीं मानती तो पहले तेरा सिर काटूँगी, बाद में अपना भी।' तब रंगवेल थाल लेकर सम्मुख खड़ी हो गई। रानी ने कहा—पतिदेव से कह देना कि 'आपकी आज्ञा का पालन दासी ने पहले ही कर दिया है। मैं सती होकर पहले ही देवलोक की यात्रा कर रही हूँ और आपके प्रेम के चिह्न स्वरूप यह तुच्छ भेंट भेज रही हूँ; इसे लेकर आप रण-भूमि में पधारें और विजय प्राप्त करके यश लाभ करें। देवलोक में हम दोनों का पुनः सम्मेलन होगा।' इतना कहकर रानी ने तलवार अपनी गर्दन पर पटकी, सिर कटकर थाल में गिर पड़ा। रंगवेल थाल लेकर रावत रत्नसिंह के पास गई। रानी का कटा हुआ सिर देखकर चूँडावत सरदार स्तम्भित रह गया। उसको असीम दुःख हुआ। कुछ देर बाद चूँडावत का मन शान्त हुआ। हृदय में जो मोह माया का दृढ़ महल था वह ढह गया। सरदार, रानी का कटा हुआ सिर गले में पहन, घोड़े पर सवार होकर रण-क्षेत्र के लिए रवाना हो गया।

हाडीरानी की प्रशंसा में कवि की उक्ति—

जग में सदैव ही आदर्श रही आरज्या है,
परम पवित्र जाकी पातीव्रत बान है।

रावत रत्नसिंह और हाडीरानी का विस्तृत वर्णन 'राजसिंह चरित्र' में पढ़ें।

याही पुन्य-भूमी सीता सती ने जनम लीनो,
हाडी रावरानी दीनो जाहि को प्रमाण है ।
ऐसी नारियों तें वीरा नारिन की खान रही,
ताही को स्वदेश करे क्यों न अभिमान है ।
स्वामी हित सीस निज कर सों उतारि देत,
भारत में देवियें अजौं तो विद्यमान है ॥

हाडीरानी का यह आत्म-बलिदान स्तुत्य है, अपूर्व है और अनुपम है। इतिहास में ऐसी ही देवियों के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते हैं।

सती रूपकुमारी

अधर्म जब धर्म की आड में, धर्म का वेश लेकर खड़ा होता है, तब अत्यन्त घातक होता है। उसकी कृत्रिम धार्मिकता धर्म से भी प्रगाढ़ प्रतीत होती है। उसके प्रपञ्च-जाल में अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पड जाया करते है। ऐसे समय एकमात्र श्रीहरि ही रक्षा करने में समर्थ होते हैं। भगवान् बलराम ने कहा था—'वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः।' धार्मिक बनकर पाखण्ड करके जो पाप करते है, उन महा-

पातकियों का उद्धार तो कभी नहीं हो सकता। अवश्य ही वे शासक के द्वारा प्राण-दण्ड पाने योग्य है।

आगरा के एक ग्राम मे एक ऐसे ही महानुभाव निवास करते थे। उनका नाम भी भगवतदास था। तिलक, बड़ी-बड़ी माला तथा पूजा-पाठ से वे अपने को अत्यन्त भगवद्भक्त प्रख्यात करते थे। संसार की दु:खरूपता तथा विषयों के प्रति वैराग्य का बड़ी प्रभावपूर्ण भाषा मे वर्णन किया करते थे। गुप्त रूप से समीप के गुण्डों से उनका सम्बन्ध था और उनकी अनेक इच्छाएँ गुण्डों के द्वारा पूर्ण होती थीं। गांव के धर्मसिंह नामक सुशील, धार्मिक एवं सीधे राजपूत पर उन्होंने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। उस भोले क्षत्रिय से वे अनेक प्रकार की सेवा लेते रहते थे। उसका अन्नादि भी ले लेते थे। धर्मसिंह ऐसे धर्मात्मा की सेवा से प्रसन्न था।

भगवतदास किसी कार्य वश धर्मसिंह के घर आये। उनकी दृष्टि धर्मसिंह की पत्नी रूपकुमारी पर पड़ गयी। रूपकुमारी सौन्दर्य मे अपने नाम के अनुरूप ही थीं। भगवतदास मुग्ध हो गये। अब तो उनकी बैठक धर्मसिंह के घर प्रारम्भ हो गयी। सुबह, शाम, दोपहर को वे धर्मसिंह के यहाँ ही डटे रहते। उनका सत्सङ्ग प्रारम्भ हो गया। लच्छेदार भाषा में वैराग्य और ज्ञान के उपदेश दिये जाने लगे। प्रत्येक कार्य में धर्मसिंह को सहायता और सलाह देने लगे। किसी भी बहाने से धर्मसिंह के घर का चक्कर काटना उन्होंने अपना कार्य बना लिया।

इस प्रकार चक्कर काटने से लाभ होते न देख, धर्मसिंह को कहीं दूर भेजने का उन्होंने निश्चय किया। गुण्डे हाथ में थे ही, गाँव में लड़ाई हुई। प्रतिपक्षी को समझा दिया कि धर्मसिंह की इस में प्रेरणा है। मुकद्दमा चला और वह अदालत पहुँचा। धर्मसिंह को प्रयाग जाना ही पड़ेगा। भगवतदास ने खूब प्रोत्साहित किया। साथ चलकर सब काम करा देने का वचन दिया। ठीक चलने के दिन आपने खेद के साथ प्रकट किया कि 'बीमार हो जानेके कारण मैं साथ न जा सकूँगा।'

'भगवान् ने अच्छा ही किया। आपके यहाँ रहने से मैं घर की ओर से निश्चिन्त रहूँगा।' सरल-हृदय धर्मसिंह ने तो यह कहकर प्रस्थान किया। भगवतदास ने उत्साह पूर्वक आश्वासन दिया। शाम को भोजन करके वह धर्मसिंह के घर पहुँचा। उसने प्रकट किया कि धर्मसिंह की अनुपस्थिति में मैं बरामदे में सोऊँगा। सरल-हृदया रूपकुमारी उनके सौजन्य से प्रसन्न हुई। बरामदे में उनके लिये चारपाई लगा दी गयी।

'ओह! मुझे बड़ी पीड़ा है। पास के गाँव में जाकर वैद्यजी से औषधि ले आओ।' थोड़ी देर पश्चात् भगवतदास ने सेवक से कहा। धर्मसिंह के घर पर दो सेवक थे। एक को वे साथ ले गये थे और दूसरे को इस प्रकार घर से बाहर भेज दिया गया। मार्ग में पहले ही से गुण्डे रक्खे गये थे। उन्होंने सेवक को पकड़कर रस्सियों से बाँधा और समीप के एक जलहीन कुएँ में फेंक दिया।

बेचारी रूपकुमारी को क्या पता था इस दुष्टता का। वह अपने पुत्र को लेकर निश्चिन्त सो रही थी। सहसा अर्द्धरात्रि में कुछ आहट पाकर उसकी निद्रा दूर हुई। उसने देखा कि भगवतदास उसकी चारपाई के पास खड़ा है। एक बार तो वह चौंकी। भगवतदास का शरीर काँप रहा था और मुख से स्पष्ट शब्द नहीं निकलता था। रूपकुमारी को उसके दूषित भाव का अनुमान हो गया। उसने एक धक्का दिया।

जिमि कुपंथ पग देत खगेसा। रहै न बुधि बल तन लवलेसा॥

भगवतदास लुढ़क गये। रूपकुमारी भागकर एक कोठरी में घुस गयी और उसने भीतर से द्वार बंध कर लिये। अब भगवतदास सम्हला। उसको रोष आया। पहले से बहुत कुछ सोचकर प्रस्तुत होकर गया था। उसने तलवार खींची और रूपकुमारी के शिशु को पकड़कर उस बंद द्वार के पास जाकर कहने लगा—'रूपकुमारी! मैं तुम्हारे लिये बहुत दिनों से संतप्त हो रहा हूँ। तुम्हें पाने के लिये मैंने बहुत चेष्टा की। अब आज मैं निराश नहीं जाना चाहता। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। सीधी तरह बाहर चली आओ, नहीं तो तुम्हारे इस इकलौते लड़के को काटकर फेंक दूँगा।'

बच्चा रो रहा था। रूपकुमारी समझ गयीं कि यह पिशाच सब कुछ कर सकता है। फिर भी वह दृढ़ रही। उसने उपेक्षा पूर्वक कहा—'चाण्डाल! तू धार्मिकता के ढोंग में इतना

पाप लिये फिरता था, यह आज पता लगा। एक बालक की

हत्या करनी हो तो कर डाल। पतिव्रता स्त्री किसी लोभ या भय से अपने धर्म को नहीं छोड़ा करती। मेरे बच्चे का प्रारब्ध होगा, भगवान् उसकी रक्षा करना चाहेंगे, तो चाहे जैसे कर लेंगे। यदि उसकी मृत्यु ही आ गयी हो तो तू हत्या का पाप ले ले!'

मारने की धमकी देना सरल है, किन्तु मारने पर सवेरे ही पुलिस जाँच करके बड़े घर में बंद कर देगी और फिर फाँसी का फंदा। भगवतदास का साहस नहीं हुआ। इसी समय उसकी दृष्टि एक कुदाल पर पड़ी। उसने बच्चे को तो चारपाई पर डाल दिया और कुदाल लेकर बंद कमरे की दीवाल खोदने लगा। मिट्टी की कच्ची दीवाल, भला आदमी के आने-जितना मार्ग होने में कितनी देर लगती है। व्याकुल होकर सती ने मन-ही-मन भगवान् को पुकारा। उसकी दृष्टि कमरे में पड़े गँड़ासे पर गयी, जिससे पशुओं के लिये चारा काटा जाता है। उसे उठाकर वह दीवाल के पास खड़ी हो गयी, दीवाल फूटी और छिद्र बड़ा हुआ। भगवतदास ने सिर डाला भीतर प्रवेश करने के लिये। खच—भरपूर हाथ पडा और गर्दन से मस्तक दूर जा गिरा।

दूसरे दिन सवेरे घटना का भण्डाफोड़ हुआ। सब ने रूपकुमारी के साहस की प्रशंसा की।

वीर-माता देवलदेवी

हिन्दू-सम्राट् महावीर पृथ्वीराज का नाम प्रायः समस्त भारत वासियों को ज्ञात है। एक समय किसी राज्य के राजा की कन्या का स्वयंवर था। कन्या ने वीरव्याघ्र पृथ्वीराज को वरण किया। इस कारण से अन्यान्य उपस्थित राजाओं ने उनके साथ युद्ध किया। पृथ्वीराज उन सब को परास्त कर दिल्ली लौट रहे थे कि रास्ते में महोवे के राजा परमाल ने उसकी क्षत-विक्षत सेना पर आक्रमण किया और बड़ी निष्ठुरता से बहुत-से शूरवीरों की हत्या की। पृथ्वीराज ऐसे क्षत्रिय नहीं थे कि वह ऐसा अपमान सहन करते। नव-वधू को अविलम्ब दिल्ली पहुँचा कर उन्होंने महोवे पर चढ़ाई कर दी। महोवे के द्वार स्वरूप सिरसा दुर्ग को तोड़कर पृथ्वीराज की सेना महोवे पर चढ़ी। महोवे का राजा परमाल किंकर्तव्यविमूढ़ होकर मन्त्री आदि के साथ परामर्श करने लगा। परमाल की धर्म-पत्नी सती मल्हना देवी के परामर्श से यह स्थिर हुआ कि वीर-प्रधान आल्हा-ऊदल दोनों भाइयों के पास कन्नोज दूत भेजा जाय और इस विपदावस्था मे आकर महोवे की नाक रखने के लिये उनसे विनती की जाय। तब तक दिल्लीपति से एक महीने के लिये युद्ध शान्त रखने के लिये अनुरोध किया जाय। महोबा-धीश ने इस परामर्श के अनुसार सम्राट् पृथ्वीराज से अनुरोध

किया। दिल्लीपति ने भी परमाल के अनुरोध से उन्हें एक महीने का अवसर प्रदान किया। इस निश्चय के पश्चात् दिल्ली-पति की सेना महोवे के दुर्ग-द्वारों से हट गयी और आल्हा-ऊदल के पास दूत भेजा गया। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि आल्हा-ऊदल कौन थे और महोवे से उनका क्या सम्बन्ध था—क्योंकि भारतवर्ष के हिन्दी-भाषा-भाषी मात्र उनके नाम और वीरत्वादि गुणों से पूर्ण परिचित हैं।

दूतशिरोमणि जगनिक ने कन्नौज पहुँच कर आल्हा-ऊदल के सम्मुख बड़ी ही मार्मिक भाषा मे महोवे की विपद् का वर्णन करके महोवा चलने का अनुरोध किया।

जगनिक की बातें सुनकर दोनों भाई क्रोध से कांपने लगे। परमाल-कृत अपमान का स्मरण होते ही उनका क्रोध चौगुना हो उठा। वे मर्मस्पर्शी वचनों मे बोले—

'महोवा ध्वंस हो। चंदेलवंश का सर्वनाश हो। हम लोगों ने महोवे के लिये कितने देश और राज्य नहीं जीते, कितने धन-रत्न द्वारा महोवे के राज्यभण्डार को नहीं भरा, अपने जीवन को विपद्-ग्रस्त कर महोवे के चंदेल राजा की गौरव-वृद्धि के हेतु हम लोगों ने कितना दुःख नहीं उठाया; किन्तु इन सब सेवाओं का पुरस्कार मिला—जन्मभूमि से निर्वासन।'

यह सुन राजदूत जगनिक अत्यन्त व्यथित हुआ—आल्हा-ऊदल का मन फेरने के लिये उसने दोनों भाइयों से नाना प्रकार से विनती की। अन्त मे जगनिक ने कहा—'मल्हनादेवी तुम

दोनों भाइयों को पुत्रवत् स्नेह करती है। वह तुम दोनों भाइयों के आगमन की बाट जोहती बैठी हुई है। तुम्हारी माता देवलदेवी ने उनसे अनेक बार यही प्रतिज्ञा की है कि महोबे के विपत्ति-मोचन के लिये ही तुम दोनों का जन्म हुआ है। मल्हनादेवी इस विपत्ति के समय में देवलदेवी से सविनय अनुरोध करती है कि वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करे। जो प्रतिज्ञा भंग करता है, वह इस संसार में घृणित समझा जाता है और परलोक में नरक-यन्त्रणा भोगता है।'

इस बीच में देवलदेवी ने सुना कि मल्हना रानी ने उनके पास सन्देश भेजा है। उन्होंने दूत के मुख से सब बातें सुनकर तत्क्षणात् अपने पुत्रों को आदेश किया—'बेटा! अब देरी का समय नहीं है। महोबे के लिये शीघ्र प्रस्तुत होओ।'

यह सुनकर आल्हा तो चुप हो रहे, पर ऊदल उच्च स्वर से बोले—'महोबा भाड़ में जाय—महोबे का सर्वनाश हो। हाय! क्या उस दिन को हम कभी भूल सकेंगे, जिस दिन परमाल ने हमें अतीव दीनावस्था में निर्वासित किया था? क्या हम लोग उस घोर अपमान को भूल जायँगे? महोबे जाकर हम अपनी हँसी कराकर क्या धिक्कार-भाजन बनेंगे? महोबे से अब हमारा क्या सम्बन्ध! अब तो कन्नौज ही हमारा घर है।'

ऊदल के उद्गार ने वीर-रमणी देवलदेवी के अन्तर को आलोड़ित कर दिया। वे स्वदेशवत्सला थीं। अपने राज्य—अपनी जन्मभूमि की विपत्ति की वार्ता सुनकर विचलित हो

उठी। वे बोलीं—'ईश्वर। तू ने मुझे वन्ध्या ही क्यों न किया। जो

पुत्र गण राजपूतों के चिर-अनुगत मार्ग को हठ पूर्वक परित्याग कर रहे हैं और अपनी मातृभूमि को बिपद् से उद्धार करने में कुण्ठित हो रहे है, उनके जन्म लेने से क्या लाभ ? ऐसे पुत्रों का जन्म न लेना अच्छा था।'—यह कहकर दुःख-विदीर्यमाण हृदय से आकाश की ओर देखकर पुनर्वार वे कहने लगीं—'हे प्रभो जगन्नाथ! क्या इसीके लिये मुझे गर्भयन्त्रणा और प्रसव-वेदना आदि मातृ-कष्ट आपके द्वारा प्राप्त हुए थे? अरे अयोग्य पुत्रो! युद्ध का नाम सुनकर प्रकृत राजपुत्र का हृदय आनन्द से नाच उठता है। तुम लोग कदापि वीरप्रधान यशोराजसिंह के पुत्र नहीं हो सकते। मालूम होता है कोई दुरात्मा किसी छद्मवेश में मेरा धर्म लूट ले गया। तुम नीचाशय प्राणरक्षक भीरु दोनों भाई उस दुरात्मा के वीर्य से सम्भूत हुए हो।'

अपनी माता की अग्निमयी तिरस्कार-वाणी श्रवण करके आल्हा-ऊदल पदाहत फणिराज के तुल्य घोर गर्जन करते हुए महोबा जाने को तैयार हो गये और उसी क्षण कान्यकुब्जाधीश की अनुमति माँगने के हेतु दरबार में पहुँचे। कन्नौजराज दोनों भाइयों तथा राजदूत जगनिक को सम्मान पूर्वक अनेक धन-रत्न देकर अनुमति प्रदान पूर्वक आशीर्वाद देते हुए बोले कि—'राजपूतों के कर्तव्य का पालन करो।'

आल्हा-ऊदल दोनों भाई कन्नौजाधीश से विदा होकर व्यग्रचित्त महोबे के लिये प्रस्थानित हुए। रास्ते में उन्हें अपशकुन हुए। पर वीर भ्राताओं ने उन्हें कुछ न समझा और मन में

कहा कि 'यदि स्वयं मृत्यु भी सम्मुख आवे, तो वह भी हमें आज नहीं रोक सकती।' इस प्रकार दृढ़-संकल्प हो वे बड़े वेग से महोवे की ओर बढ़े।

जब परमाल के कान में यह बात पहुँची कि आल्हा-ऊदल आ रहे हैं, तब उनका हृदय आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा और आल्हा-ऊदल की अगवानी के लिये बड़े समारोह से वीर-गणों को साथ ले वे स्वयं चले।

आल्हा-ऊदल महोवा पहुँचे। मल्हनादेवी ने उनकी आरती उतारकर बड़ी प्रशंसा की। स्वदेश-भक्ति से मुग्ध होकर उन्हें प्रेम से आलिङ्गन किया और आनन्द के साथ उनको महल में ले गयीं। जब वीरव्याघ्र पृथ्वीराज के कान में यह बात पहुँची कि आल्हा-ऊदल आ गये, तब उन्होंने परमाल के निकट यह सन्देश भेजा—

दिल्लीपति की असहाय क्षत-विक्षत सेना की हत्या ही इस युद्ध का कारण है। अवसर से सात दिन अधिक बीत गये। यदि महोवा-नृपति की युद्ध करने की इच्छा नहीं है तो वे दिल्ली की अधीनता स्वीकार करें।'

पत्र पाकर परमाल निराश और दुःखित हुए ; पर आल्हा-ऊदल ने प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि 'आज या तो हम रणक्षेत्र में मस्तक देंगे या पृथ्वीराज का गर्व भञ्जन करेंगे। वीर गण मृत्यु का आलिङ्गन भले ही करें, पर शत्रु के सामने सिर नहीं झुकाते। असंख्य सैन्य द्वारा वेष्टित होने पर भी वीर अपना बलाभिमान नहीं त्यागते तथा युद्धार्थ प्रण करके पीछे नहीं हटते।'

दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं, और नियत तिथि के प्रातःकाल रण के लिये सुसज्जित हो आल्हा और ऊदल अपनी माता देवलदेवी के दर्शन के लिये उपस्थित हुए।

देवलदेवी वीर-माता थीं। उन्होंने आल्हा-ऊदल दोनों के सिर पर अपना हस्त रखकर आशीर्वाद दिया और कहा कि 'कर्तव्य पालन के समान धर्म संसार में अन्य नहीं है। प्राणपण से कर्तव्य पालन करना ही वीरों का व्रत है। यदि कर्तव्य-पालन करते हुए प्राण विसर्जन हो तो समझो कि तुम्हारा जीवन सार्थक हुआ और तुम्हारी माता सचमुच पवित्र और धन्य हुई। तुम महोवे की मान-रक्षा करो। जन्मभूमि की गौरव-रक्षा करना प्रत्येक नर-नारी का पवित्र कर्तव्य है। आल्हा के हाथ में बरछी देती हुई वे बोलीं—'इस बरछी (शूल) के अग्रभाग मे शत्रु का सिर लेकर आओ, अन्यथा मृत्यु को सहर्ष चुम्बन करो।' फिर ऊदल को खड्ग देकर बोलीं—'बेटा! शत्रुओं को पीठ दिखला-कर घर न लौटना। यदि तुम दोनों भाई वीरश्रेष्ठ यशोराजसिंह के विमल वीर्य से सम्भूत हो तो महोवे की मान-रक्षा के प्रयत्न में प्राण-विसर्जन कर देना। यही तुम्हारा कर्तव्य है—पावन धर्म है। तुम शरीर और प्राणों का मोह त्यागकर वीर-व्रत का अनुष्ठान करो—स्वकर्तव्य-पालन करो।' ऐसी वीरोचित शिक्षा देकर देवलदेवी ने पुत्रों को रणक्षेत्र के लिये विदा किया।

आहा! ऐसी आदर्श वीरमाता का नाम क्यों न अमर हो और उसकी कीर्ति-कौमुदी संसार में युग-युग तक क्यों न

फैले। क्या भारत में अब ऐसी वीर-माता जन्म-धारण न करेंगी ?

सती कमलादेवी

कमलादेवी वीरपुर गाँव के एक वीर राजपूत की वीर-पुत्री थीं। इनके पिताजी प्रायः युद्ध मे रहा करते थे, परन्तु इनकी माताजी ने इन्हें शिक्षा दी। वीरों की कहानियाँ सुनकर इनके रोएं फड़क उठते थे। यही कारण था कि मा की मृत्यु के बाद भी ये भयभीत नहीं होती थीं। नदी तट, निर्जन वन और पर्वत की गुफाओं मे भी ये पिता के साथ घूमकर अत्यन्त प्रसन्न होती थीं। पिता की अनुपस्थिति मे खाये-पीये विना रह लेने का इनका अभ्यास हो गया था। शस्त्रादि चलाना ये अच्छी तरह जान गयी थीं। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक लंबी तलवार इनकी कटि मे लटकती ही रहती थी।

एक दिन शत्रुओं से पाँच दिन तक भयङ्कर युद्ध हुआ और उसमें कमलादेवी के पिता धराशायी हो गये। यह समाचार देवीजी को बाद मे मिला। उन्होंने निश्चय कर लिया कि 'मैं जब तक शत्रुओं का समूल उच्छेद नहीं कर दूँगी, तब तक अपना पाणिग्रहण नहीं कराऊँगी।'

दो वर्ष बीतते-बीतते कमला की धाक अपने प्रान्त में सब पर छा गयी। उसने अपनी भूमि शत्रुओं से रहित कर दी। वीरता, धीरता और साहस की वह सजीव मूर्ति थी। उसके एक हुंकार से अरिदल कांप जाता था और उसके सैनिकों का उत्साह बढ़ जाता था। उसके समस्त सैनिक उसके आज्ञा-पालन के लिये प्रति क्षण तैयार रहते थे।

सैनिकों में कुछ ऐसे थे, जो उसकी रूप-माधुरी पर आकर्षित होकर उसकी आज्ञा मानते और हर तरह से अपने को वीर सिद्ध करने का प्रयत्न करते। उन्हीं में एक सैनिक का नाम था गुलाबसिंह। यह अत्यन्त सरल, भोला और पराक्रमी तथा वीर था। यह कभी व्यर्थ की डींग कमलादेवी के सामने नहीं मारता था। कमलादेवी इसे बहुत प्यार करती थीं, और मन-ही-मन उसको वरण भी कर चुकी थीं।

कमलादेवी ने एक दिन सुना कि पास के जंगल में चार शेर आ गये हैं। देवी ने अपने पचीस-तीस सैनिकों के साथ तुरंत वहाँ के लिये प्रस्थान किया। जंगल में पहुँचकर सब का निवास स्थाम ठीक करके वे स्वयं जंगल में आगे चलीं। घोड़े की टाप का शब्द सुनकर नर-मादा दोनों शेर सामने आकर गुर्राने लगे। कमलादेवी के जैसे पांव के नीचे से पृथ्वी सरक गयी। वे सँभली ही थीं कि उन्होंने देखा एक वीर राजपूत उन शेरों के पास, जाकर युद्ध करने लगा। शेर-दम्पति तो धराशायी हो गये; पर राजपूत का शरीर शिथिल हो गया,

वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। शेर के दो बच्चे माता-पिता का

बदला लेने के लिये राजपूत के वक्षःस्थल पर चढ़कर उसे विदीर्ण करना ही चाहते थे कि कमला ने दौड़कर तलवार के एक ही वार से उनका सिर अलग कर दिया।

राजपूत की आकृति देखते ही कमला चीख उठी। वह वीर राजपूत गुलाबसिंह थे। कदाचित् कमलादेवी को अकेले जाते देखकर तीर की तरह वे भी उसके पीछे हो लिये थे।

गुलाबसिंह को देवी उठा लायीं। उसने बड़ी तत्परता से चिकित्सा करायी। तीसरे दिन गुलाबसिंह ने आँख खोली और पूछा—कौन ? रोते हुए कमलादेवी ने उत्तर दिया 'प्राण-नाथ'! मैं हूँ आपकी कमला।' देवी का उत्तर पूरा भी नहीं हो पाया कि एक ही हिचकी में गुलाबसिंह के प्राण निकल गये। कमलादेवी केवल वरण किये हुए स्वामी के शव पर गिरकर क्रन्दन करने लगीं।

वीरपुर गाँव के पास के छोटे-से मैदान में चन्दन की चिता तैयार हुई। समस्त ग्राम-वासियों के बीच कमलादेवी अपने प्राण प्रिय जीवन-धन की निर्जीव देह के साथ जलकर राख हो गयीं।

राजपूताने के वीरपुर गाँव की एक छोटी-सी गुफा में सती कमलादेवी का भग्न-स्मारक आज भी विद्यमान है। उस गाँव में जब किसी बालक-बालिका का विवाह होता है, तो दुलहा-दुलहिन सहस्रों स्त्री-पुरुषों के साथ वहाँ जाकर पूजन करते और मङ्गल-गीत गाते हैं।

रानी साहबकुँवरि

पंजाब मे पटियाला की रियासत जम्मू काश्मीर के अतिरिक्त सब से बड़ी रियासत समझी जाती है। इसी राज्य में दो सौ साल पहले एक अत्यन्त सुन्दर, कार्यकुशल और चतुर रानी ने जन्म लिया था। अठारहवीं सदी:के अन्तिम चरण में मराठा-संघ का दबदबा सारे देश मे बढ़ता चला जा रहा था। लार्ड वेलेसली अपनी कूटनीति से भारत का मानचित्र लाल रंग से रँगने का जोरदार प्रयत्न कर रहा था। पंजाब के मिसल और छोटी-छोटी रियासतें मराठों और अंग्रेजों से अपनी स्वाधीनता बचाने के लिये बड़ी-बड़ी सेनाएँ सुसज्जित कर रही थीं। रानी साहबकुंवरि का भाई साहबसिंह कमजोर, निकम्मा और अयोग्य शासक था। साहबकुंवरि चारिद्वाब के राजा जयमलसिंह की पत्नी थी। भाई को सहायता देने के लिये पति की आज्ञा से रानी पटियाला में ही रहकर शासन-प्रबन्ध करने लगी। उसके सुप्रबन्ध से राज्य और प्रजा दोनों की दशा सुधर गयी।

राजकुंवरि किसी भी गुण मे पुरुषों से कम नहीं थी। जिस तरह उसमें शासन करने की योग्यता थी, काम पड़ने पर उसने उसी तरह रणकुशलता और वीरता का भी परिचय दिया। प्रजा रानी की सुश्रृंखला कार्य-प्रणाली और शासन-नीति से सन्तुष्ट थी। इधर रानी पटियाला का शासन सम्हाल रही थी, उधर

जयमलसिंह के सगे भाई फतहसिंह ने, जो उससे पहले से खार

खाये हुए था, उसे कैद कर लिया। वीर रानी ने फतहसिंह पर चढ़ाई कर दी और पति को उसके फौलादी पंजों से मुक्त कर पटियाला लौट आयी।

इधर मराठों ने पटियाला पर आक्रमण कर दिया, वे सन्धि के अनुसार 'कर' लेना चाहते थे। . रानी ने चौथ देना अपमान समझा। पटियाला की सेना लेकर उसने मराठों का सामना किया। रानी की युद्धचातुरी ने उन्हें सन्धि कर लेने के लिये विवश किया। सन् १७६४ ई० में सन्धि हो गयी। इसी बीच में नाहन राज्य की प्रजा ने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। रानी साहबकुंवरि की सहायता से विद्रोह दबाकर राजा ने शान्ति स्थापित की। रानी के आत्मबल ने उसकी कीर्तिलता दूर-दूर तक फैला दी।

सन् १७६६ ई० मे अंग्रेज सेनापति सर टामस ने झिन्द राज्य पर आक्रमण कर दिया, वह तमाम सिख रियासतों पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। रानी ने सिखों की सहायता की, सर टामस 'मेहम' की ओर बढ़ गया, यह तो सिखों को धोखा देने के लिये उसकी एक चाल थी। रानी की मध्यस्थता से सर टामस ने सिखों से सुलह कर ली।

पटियाला का शासन-प्रबन्ध ठीक-ठीक चल रहा था, रानी ने कुछ दिनों के लिये एकान्तवास करना चाहा। साहबसिंह को मन-चले साथियों ने सुझाया कि वह विद्रोह करके पटियाला राज्य हड़प लेना चाहती है। राजा ने उसे थोड़न के किले में

कैद कर लिया। परन्तु रानी निकल गयी। जीवन के अन्तिम दिन उसने अपने पति के साथ 'थिरियन' किले में विताये।

वीराङ्गना रूपसुन्दरी

ईसा की सातवीं सदी में गुजरात में पंचासर नामक स्थान था। वहाँ गुजरात की राजधानी थी। जयशिखर नाम के राजा वहाँ राज्य करते थे। राजा ने अपने राज्य को तरह-तरह से समृद्ध बनाने की चेष्टा की। प्रजा सम्पन्न हो गयी और राजधानी धन-धान्य, मणि-माणिक्य तथा सुवर्ण से भरी सुशोभित होने लगी। इस सारे वैभव के साथ-साथ राजमहल में एक ऐसा अपूर्व रत्न था, जिसका प्रकाश बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह अद्भुत रत्न राजा जयशिखर की रानी—मुलतान की राजकन्या रूपसुन्दरी थी। दिव्य सौन्दर्य के होते हुए भी रूपसुन्दरी में अभिमान न था, वह विनय की मूर्ति थी। सहिष्णुता, विवेक आदि गुण उसमें सहजसिद्ध थे। अपने रूप और गुणों के कारण वह उस समय देश-विदेश में सर्वत्र प्रसिद्ध हो रही थी।

गुजरात के समीप ही भुवड़ नाम का एक राज्य था। वहाँ

का राजा गुजरात की समृद्धि और रूपसुन्दरी की ख्याति से ललच गया और अपनी सेना तैयार करके उसने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। भुवड़ की सैनिक-शक्ति गुजरात से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। अतएव युद्ध के परिणाम के विषय मे रूपसुन्दरी के मन में आशङ्काएँ होने लगीं। परन्तु उसने जयशिखर को युद्ध में लड़ने के लिये तैयार किया। युद्ध से भागना क्षत्रिय का धर्म नहीं है। प्रजा की रक्षा के लिये युद्ध मे अपना प्राण न्योछावर करने वाला राजा धन्य है! भुवडराज के साथ सैन्य-बल अधिक होने के कारण जयशिखर पराजित हुआ और युद्ध में मारा गया।

रूपसुन्दरी गर्भवती थी। अतएव पति के साथ चिता पर जलना उसके लिये ठीक न था। अतएव गर्भ की रक्षा के लिये वह अपने भाई के साथ भागकर वन मे चली गयी। फिर भाई को तो लौटा दिया और आप घूमते-घूमते एक निरापद स्थान में पहुँची। वहाँ एक गरीब भीलनी के यहाँ शरण लेकर रहने लगी और भीलनी फल-मूल देकर उसका भरण-पोषण करने लगी। वहाँ ही उसने एक पुत्र-रत्न प्रसव किया। वन मे रहने के कारण उस बालक का नाम वनराज रक्खा गया।

भीलनी तथा अपनी माता की वीर-कथाओं के बीच राज-कुमार बढ़ ही रहा था कि इतने में एक संन्यासी एक दिन उस ओर आ निकले। उन्होंने रूपसुन्दरी को बच्चे के साथ अपने

आश्रम-में चलने के लिये कहा। रानी ने जब ठीक-ठीक पहचान

लिया कि संन्यासी वास्तविक परोपकारी संत हैं, तब उनके साथ जाने के लिये तैयार हो गयी।

संन्यासी के आश्रम में रूपसुन्दरी और उसके बालक वनराज का जीवन बहुत सुख से बीतने लगा। वनराज बढ़कर जवान हुआ। उसे सब प्रकार की शस्त्रास्त्र-विद्या सिखलायी गयी। रूपवती ने एक दिन उसे भुवड़ के राजा से अपने पिता का बदला लेने के लिये उत्साहित किया। वनराज बहुत बहादुर निकला। उसने भीलों की सेना तैयार करके भुवड़राज पर चढ़ाई कर दी और राजा को पराजितकर अपने देश गुजरात को अधिकार में कर लिया।

रानी रूपसुन्दरी ने राज्य प्राप्त हो जाने पर भील-सरदार और संन्यासी को राजधानी में बड़े सत्कार से बुलाया और उन्हें अच्छी तरह सम्मानित किया। रानी रूपसुन्दरी की कथा चारों ओर फैल गयी। रूपसुन्दरी ने अपने बच्चे को वीर बनाकर पति के द्वारा हारे हुए राज्य को पुनः प्राप्त किया और धीरे-धीरे गुजरात की प्रजा पुनः समृद्ध हो गयी और सुख-चैन से दिन बिताने लगी।

क्षत्राणी विदुला

'धिक्कार है तुझे ! कापुरुष ! युद्धभूमि से भागकर अब तू यहाँ स्त्रियों की भाँति कोने में मुख छिपाकर रोने आया है ? डूब मरने के लिये तुझे कहीं दो चुल्लू पानी भी नहीं मिला ? तू अपने शूर पिता का पुत्र नहीं है। तू किसी नीच से उत्पन्न होने योग्य था। पुरुषत्व हीन पशु। तेरी कीर्ति नष्ट हो गयी। अब तेरा जीवन व्यर्थ है। मुझे अपना कलङ्कित मुख दिखलाने का तुझे किस प्रकार साहस हुआ। जा, अब भी मेरी आँखों से दूर हो। जो दूसरों के पराक्रम का उत्तर दे सके, जो दूसरों के आघात पर प्रत्याघात कर सके, जिसके पैरों में मदमत्त सिंह के मस्तक पर ठोकर मारने की शक्ति हो, वही पुरुष है। जो शत्रु के भय से भाग खड़ा होता है, जिसे प्राणों का लोभ भय-भीत कर देता है, वह पुरुष नहीं कहला सकता। स्त्री मे भी महत्ता होती है। स्त्री भी पृथ्वी में हीन एवं अपमानित होकर नहीं रहना चाहती। संसार मे तेरे समान हीन, तिरस्कृत जीवन विताने वाले हिंजड़े हैं। अमंगल स्वरूप तेरा जन्म मेरे गर्भ से मुझे तथा इस पवित्र कुल को कलंकित करने के लिये हुआ है। तेरे जैसे तेज एवं वीर्य से हीन पुत्र को जन्म देकर मैं लज्जित हुई हूँ। भगवान् किसी स्त्री को ऐसा कापुरुष पुत्र न दे। सञ्जय ! अब भी उठ ! शत्रु से पराजित होकर लोक में निन्दनीय

जीवन तुझे व्यतीत करना होगा। तू एक भिक्षुक होकर रहेगा। इस घृणित जीवन से मृत्यु तुझे श्रेष्ठ नहीं जान पड़ती? यदि शत्रु को पराजित करके देश का रक्षण करने की शक्ति तुझ में न हो तो शरीर मे बल रहने तक युद्ध-करके रणभूमि में प्राण त्याग कर। तुझे लोक मे सुयश प्राप्त होगा कि इस शूर ने मरते-मरते भी शत्रु पर आघात किया।'

सौवीर देश की राजमाता विदुला अपने पुत्र को युद्ध में सिन्धुराज से पराजित होकर लौटने पर धिक्कारने लगीं। वे वीर क्षत्राणी थीं और पुत्र का युद्ध से पलायन उनके लिये असह्य था। सञ्जय कोमल स्वभाव का भीरु युवक था। युद्ध की विभीपिका ने उसे आतङ्कित कर दिया था। बड़ी दीनता से उसने कहा—'मा! मैं तेरा एकमात्र पुत्र हूँ। मेरी मृत्यु से तेरे लिये कौनसा सुख अवशेप रहेगा? तू मेरी मृत्यु से सुखी होगी?'

'तू समझता है कि मैं बिना विचारे बकवाद कर रही हूँ? तू वीर-कुल में उत्पन्न राज-पुत्र है। तुझे यह स्वीकार है कि तू राजा होकर भी भिक्षुक का जीवन व्यतीत करे! इस कुल में किसी ने कभी याचना नहीं की। किसी की कृपा का अभिलाषी तेरा कोई पूर्वज कभी नहीं बना। इस वंश में किसी ने कभी किसी के सम्मुख भय वश मस्तक नहीं झुकाया। उसी कुल में अब तू दूसरे का मुख देखेगा, दूसरों की आज्ञा की प्रतीक्षा करेगा दूसरों के भय से आतङ्कित रहेगा! जो भय से शरण में आये की रक्षा न कर सके, जो अभिलापा लेकर आये को दान न

दे सके, जो दुखियों के दुःख दूर न कर सके, वह तो जीवित ही

मृतक हो गया। मृत्यु उसके यश को तो नष्ट होने से बचा लेती। यदि तुझ में क्षत्रिय का रक्त है, तो तू इस हीन जीवन में कैसे रह सकेगा? क्षुद्र नदी थोड़े जल से भर जाती है, क्षुद्र पुरुष थोड़े धन में सन्तोष कर लेते हैं। थोड़े लाभ के लिये हीनावस्था में रहने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ है। तू वीर-वंश में उत्पन्न है। अपने वंश का कलङ्क होकर, शत्रु के अनुग्रह का भिखारी बनकर जीवन बिताना तुझे शोभा नहीं देता। क्षत्रिय होकर शत्रु को मस्तक मत झुका। क्षत्रिय मर जाता है, परन्तु झुकता नहीं। बेटा, उठ! अपने सञ्जय नाम को व्यर्थ मत होने दे। एक बार फिर प्रचण्ड प्रकाश से प्रकाशित हो। जो अग्नि प्रज्वलित होकर बुझे, वह अग्नि सुलगती हुई धूम्र देने वाली अग्नि नहीं है। तू प्रज्वलित अग्नि की भाँति प्रकाशित हो। निन्दित, अपमानित, हीन होकर दीर्घ जीवन की इच्छा मत कर। एक बार ज्वलन्त प्रभा से विश्व को आलोकित करके शान्त होने वालों की महत्ता दीर्घजीवी कीड़े कर नहीं सकते।'

माता विदुला की फटकार पर बड़े करुण स्वर में सञ्जय ने कहा—'मा! तू कितनी कठोर है। ब्रह्मा ने तेरा हृदय क्या पत्थर से बनाया है? वीरता के आवेश में तू वात्सल्य को सर्वथा विस्मृत हो गयी है। अपने इस हीन पुत्र पर दया कर! आज मुझे अपने इन निष्ठुर बाणों से मत बींध। प्राण के भय से मैं तेरी शरण आया हूँ। मेरे प्राणों की ग्राहक मत बन। मेरा अमङ्गल मत कर।'

'मैं तेरी माता हूं। पुत्र-स्नेह माता का धर्म है। पुत्र का कल्याण हो, यही माता की आन्तरिक इच्छा रहा करती है, किन्तु तुझे श्रीहीन, तेजोहीन देखकर भी मैं चुप रहूँ तो मेरा मातृत्व लज्जित होगा। क्षत्राणी वीर-माता होने में गौरव मानती है। गधी की भाँति मोह से तुझे अङ्क में छिपाकर मैं तेरा कल्याण नहीं कर सकूँगी। क्षत्रिय का गौरव ही उसका मङ्गल है। क्षत्रिय माता अपने पुत्र से आदर्श क्षत्रिय होने की आकांक्षा करती है। मैं सिंहनी हूँ, जिसका पुत्र गर्जता हुआ आगे बढ़ता है। बंदरिया की भाँति बच्चे को गोद में छिपाकर भागना मुझे अभीष्ट नहीं। जो क्षत्रिय युद्ध से भाग आता है, वह तो पराक्रमहीन चोर है। कौन-सी माता चोर से स्नेह करेगी। उस माता को धिक्कार है, उसका जन्म व्यर्थ है, जो तेजोहीन, निरुद्यमी पुत्र से स्नेह करके सन्तुष्ट है। मृत्युग्रस्त रोगी को औषधि अरुचिकर होती है, इसी प्रकार तुझे मेरी बातें प्रिय नहीं। स्मरण रख, मोह के कारण तेरी यह दशा है। एक बार मोह से मुक्त हो, तेरी दुर्बुद्धि चली जायगी। तुझे जान पड़ेगा कि तेरा कर्तव्य क्या है। तुच्छ शरीर के प्रति इतना मोह क्यों ? क्षत्रिय किस लिये जीवित रहता है, मा होकर भी मैं क्यों तुझे युद्ध में भेज रही हूँ, तभी तू जान सकेगा। तभी तू जान सकेगा कि क्षत्रिय विजयी होने के लिये ही जीवित रहता है। वह शासक होने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। पराजित होकर भटकते हुए जीने के लिये क्षत्रिय उत्पन्न नहीं होता।

भयभीत निन्दनीय जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा शत्रु का संहार करते हुए रण-क्षेत्र मे मृत्यु का आलिङ्गन क्षत्रिय को सदा प्रिय होता है। कर्महीन, उद्यमहीन, आलसी जीवन से कर्मवीर की निष्फल चेष्टाएं सहस्रगुनी श्लाघ्य हैं। पुत्र! मन को स्थिर कर। प्राण जाने के भय को छोड़ दे। अपने उज्ज्वल वंश की सुकीर्ति की रक्षा का निश्चय कर। एक बार क्षत्रिय-माता का योग्य पुत्र अपने को सिद्ध कर! अपने तेज और पराक्रम से शत्रु को नोंच फेंक। रौंद डाल अपने विरोधियों को। वीर-कुल मे अपने जन्म को सार्थक कर। अपने वीरत्व के गौरव से जगत् को उज्ज्वल कर। तेरा साहस, तेरा शौर्य, तेरी वीरता सैनिकों मे साहस और बल दे। देश के शत्रुओं को देश से बाहर ढकेल दे और शत्रु से पीड़ित प्रजा का रक्षण कर। तब देखना कि तेरी माता के हृदय मे अपने सुयोग्य पुत्र के लिये कितना स्नेह है।'

अन्ततः सञ्जय भी इस तेजोमयी का पुत्र था। उसे माता के वचन लग गये। 'मा! या तो विजयी होकर ही तेरे चरणों में मस्तक रक्खूँगा या रणभूमि मे शृगाल ही इस शरीर को नोंच डालेंगे' कहकर उसने प्रस्थान किया। जान पर खेलकर लड़ने वाले के हाथ यमराज को भी भारी पड़ते हैं। सिन्धुराज को पराजित होकर भागना पड़ा। विजयी पुत्र ने लौटकर माता के चरणों पर मस्तक रक्खा।

आदर्श के लिये मृत्यु का वरण करने को अपने हृदय के

लालों को भेजने वाली देवियों से ही भारत विश्ववन्द्य था। आज भी उसकी आशा, माताओं से ही है। भारतीय नारियाँ यदि विदुला के समान माताएँ हो जायँ तो किस में शक्ति है जो भारत को पुनः अपने पद पर प्रतिष्ठित होने से रोक सकेगा।

वीराङ्गना रानी कलावती

मध्यभारत का छोटा-सा राज्य और दिल्लीश्वर की विशाल वाहिनी। दक्षिण भारत पर आक्रमण करने जाते समय बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति ने इस राज्य पर आधिपत्य कर लेना समुचित समझा। राजपूत प्राण रहते पराधीनता स्वीकार कर लें, यह सम्भव नहीं। महाराज कर्णसिंहने यवन-दूत को कोरा उत्तर दे दिया। मन्त्रियों तथा सेनाध्यक्ष की सम्मति हुई आगे बढ़कर पर्वतीय मार्ग में शत्रु का सामना करने की। राजधानी पर शत्रु का चढ़ आना अधिक भयङ्कर था।

'महाराज! आपने मुझे जीवनसङ्गिनी बनाया है तो मुझे सदा सङ्गिनी ही रहने दीजिये। सिंहिनी के आघात अपने वनराज से दुर्बल भले हों, पर श्रृगालों के संहार के लिये तो पर्याप्त हैं।' रानी कलावती ने अन्तःपुर में विदा लेने आये

महाराज के सम्मुख अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया। अन्त में महाराज को अनुमति देनी पड़ी। आजानुलम्बित कुञ्चित कुन्तल-राशि शिरस्त्राण में संयमित हो गयी। सुकुमार अङ्गवल्ली लौहकवच से विभूषित हो रही। खड्ग, भल्ल, धनुष, त्रोण सजाये अपने पतिके साथ वह वीर क्षत्राणी सैनिकों के सम्मुख आयीं।

थोड़े-से राजपूत सैनिक और विशाल यवन-सैन्य; किन्तु यहाँ स्वाधीनता के लिये मृत्यु को वरण करने का उत्साह था और उधर वेतनभोगी विलासी थे। महाराज साक्षात् त्रिशूल उठाये यहाँ भैरव की भाँति दुर्दम हो गये थे। वे शत्रुओं को गाजर-मूली की भाँति काट रहे थे। महारानी अपने पति की पार्श्वरक्षा कर रही थीं। इतने में महाराज को बहुसंख्यक शत्रु सैनिकों ने चारों ओर से घेर लिया। अन्ततः एक आघात लगा और महाराज अवश हो गये।

'नृमुण्डमालिनी की जय!' सिंह के आहत होने पर सिंहनी दुर्दम हो जाती है। महादुर्गा की भाँति महारानी के दोनों हाथ चल रहे थे। घोड़े की लगाम दाँतों में थी। पति के शरीर की रक्षा के अतिरिक्त आसपास की सेना को उन्होंने काट फेंका। महारानी के शौर्य ने सैनिकों में नव जीवन प्रदान कर दिया। उन्मत्त राजपूतों के सामने शत्रु-सेना भाग खड़ी हुई।

'महाराज पर नरपिशाचों ने विषैले शस्त्र से वार किया है। विषको चूसने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। विष चूसने

वाले के बचने की आशा नहीं है।' विजयिनी रानी पति को
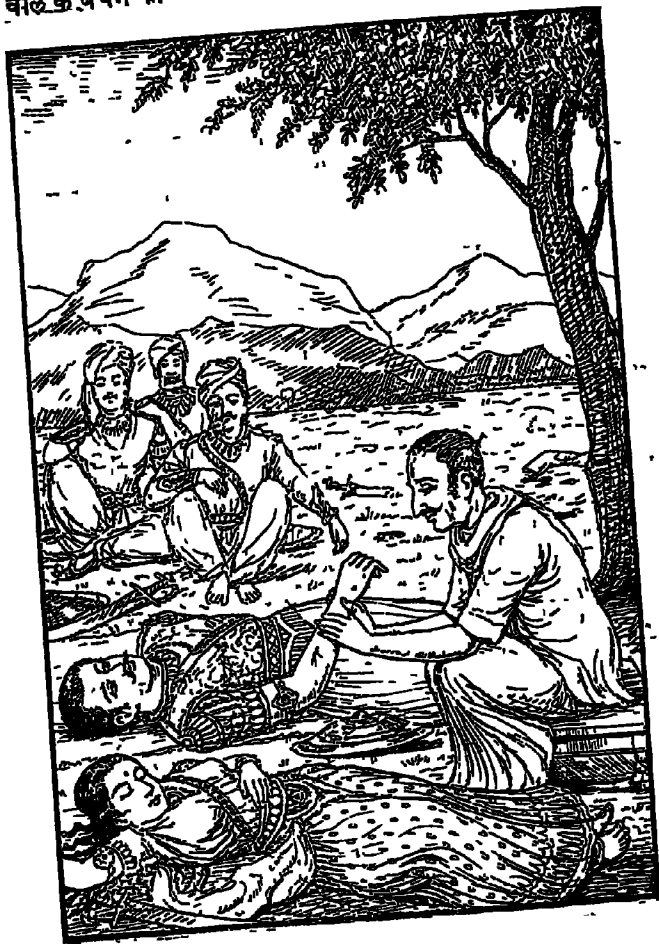
लेकर सेनाके साथ लौट आयी थीं। महाराज के आहृत-स्थान की परीक्षा करके, राजवैद्य ने अपनी सम्मति दे दी।

'प्राण सब को प्रिय है। अपने स्वार्थ के लिये किसी को प्राण देने की आज्ञा देना घोर नृशंसता है। यह दासी भला, अपने आराध्य के कब काम आयेगी। महाराज जानकर ऐसा नहीं करने देंगे। दूसरे भी बाधा डालेंगे।' रानी कलावती ने मन-ही-मन निश्चय किया। महाराज के आहृत स्थलों पर शीतल लेप हुआ। वैद्य तथा उपचारक विदा कर दिये गये। महाराज को निद्रा आ गयी। धीरे से महारानी ने पट्टी खोली और मुख लगा दिया। घाव चूसना भला, क्यों आने लगा उन्हें। तीव्रतम विष चूसकर फेंकना उन्हें ज्ञात नहीं था। उस मारक विष को किसी प्रकार चूस तो डाला उन्होंने, किन्तु तुरंत ही उनका शरीर नीला पड़ गया। प्राण उसी क्षण विदा हो गये।

महाराज की जलन शान्त हो गयी। उन्होंने नेत्र खोले। महारानी पर दृष्टि गयी। वैद्य ने बताया कि 'महारानी ने विष चूस लिया है। महाराज अब भय की सीमा से बाहर हैं, परन्तु महारानी की प्राणरक्षा सम्भव नहीं!' महाराज एकटक देखते रहे उस प्रेम-प्रतिमा को। 'जिसने मेरे लिये अपनी बलि दे दी, उसके बिना मैं जीवित रहकर क्या करूँगा!' कोई रोके, इससे पूर्व तो महाराज के दक्षिण हाथ की कटार वक्ष-भेदन कर चुकी थी।

पति के शरीर के साथ सती होने वाली अनेक देवियाँ हुई

है, किन्तु अपनी सजीव प्रेम-प्रतिमा के लिये अपने को उत्सर्ग कर देने वाला पुरुष भी जगत् ने देखा। एक ही चिता पर उन परस्पर को उत्सर्ग करने वाले दम्पति की आहुति लेकर अग्निदेव भी कृतार्थ हो गये।

रानी राजबाई

सन् १८३७ में वढ़वाण (काठियावाड़) राज्य का संचालन रानी राजबाई ने अपने हाथों मे लिया। वे तेजस्वी स्वभाव की, युद्ध-कला एवं नीति-शास्त्र में कुशल थीं। वढ़वाण मे उस समय राज्यसिंहासन पर स्त्रियों का ही अधिकार हुआ करता था। इसी प्रथा के अनुसार पति एवं पुत्रों की उपस्थिति मे राजबाई ने राज्यशासन प्राप्त किया था। उनमे शासन की सम्पूर्ण योग्यता थी और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि इस कार्य में नारी पुरुष से किसी प्रकार कम सुयोग्य नहीं है। उनके सुशासन के कारण ब्रिटिश अधिकारी प्रसन्न थे।

सत्तर वर्ष की आयु में राजबाई को तीर्थ-यात्रा करने की इच्छा हुई। रानी ने अपने अल्पवयस्क पौत्र को गद्दी का अधिकारी घोषित किया और उसकी माता (अपनी पुत्रवधू) को राज्य संचालिका बनाकर वे तीर्थयात्रा को निकलीं। उनकी

पुत्र-वधू गोवलबाई सुयोग्य स्त्री थीं। राज्य-संचालन की उनमें पूरी योग्यता थी। पर राज्य का अधिकार हाथ मे आने पर मन मे लोभ आ गया। गोवलबाई ने सोचा कि मैं क्यों अपनी सास के समान रानी न बनूँ। उन्होंने अपने विचार को कार्य-रूप देने के लिये सैनिकों को मिला लिया।

रानी राजबाई तीर्थयात्रा करके कई वर्षों में लौटीं। वे राजसदन मे पहुँचकर यज्ञादि करना चाहती थीं। नगरद्वार उन्हें बंद मिला। गोवलबाई ने संदेश कहला भेजा—'आप वृद्धा हुईं। आपकी मृत्यु समीप आ चुकी है। कहीं तीर्थ में जाकर भजन करें। राजभवन और राजकार्य की उलझनों में आपको अब नहीं पड़ना चाहिये।'

तेजस्विनी रानी को अपमान का बोध हुआ। उन्होंने राज-कोट जाकर तत्कालीन रेजीडेंट सर विलोग्बी से सहायता चाही। सर विलोग्बी ने सहायता देना अस्वीकार कर दिया। वहाँ से निराश होकर रानी राजबाई ने सैन्य-संग्रह प्रारम्भ किया। एक सहस्र सैनिक उन्हें मिले। लगभग पचहत्तर वर्ष की आयु मे उन्होंने सुदृढ़ कवच धारण किया। मस्तक पर शिरस्त्राण पहना और हाथ मे नंगी तलवार लेकर वे घोड़े पर बैठकर सैन्य-संचालन करती हुई आगे बढीं।

राजधानी के द्वार बंद थे। रानी के सैनिकों पर भीतर से गोलों की मार पड़ रही थी। एक-पर-एक सैनिक गिरते जा रहे थे। सहसा सेनानायक को गोली लगी। वह लुढ़ककर

रानी के पैरों के समीप गिर गया। वृद्धा महारानी ने देखा कि

उनके सैनिक पीछे हट रहे हैं। नेत्र लाल हो गये। ओष्ठ फड़कने लगे। पता नहीं उस वृद्धा के शरीर में कहाँ की शक्ति आ गयी थी। घोड़े को उन्होंने आगे बढ़ाया और नगरद्वार पर पहुँचीं। गोले-गोली की वर्षा की उन्होंने उपेक्षा कर दी थी। महारानी को बढ़ते देख सभी सैनिक बढ़ गये। द्वार पर आघात होने लगा।

नगर के सैनिक वृद्धा रानी का साहस देख डर गये। वे भाग खड़े हुए। द्वारपाल ने देखा कि द्वार तो टूट ही जायगा, अतएव उसने फाटक खोल दिया। समाचार पाते ही गोवलबाई भाग खड़ी हुई। प्रजा ने अपनी वृद्धा रानी का स्वागत किया। इस गये बीते युग में भी आज से कुल बहत्तर वर्ष पहले पौन सौ वर्ष की दीर्घ आयु में युद्ध में उत्साहपूर्वक अच्छे शूरों के हौसले पस्त करने वाली यह प्रचण्ड वीराङ्गना रानी अपने जीवन के अन्तिम समय तक शासन-संचालिका रहीं।

मलयबाई देसाई

महाराष्ट्र में वल्लारी दुर्ग प्रसिद्ध है। जिस समय महाराज शिवाजी हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना के लिये औरंगजेब से युद्ध कर रहे थे, उस समय वल्लारी का राजा एक क्षत्रिय था,

जिसकी धर्मपरायणता और शान्तिप्रियता की सराहना सुदूर राज्यों में भी हो रही थी। राजा का देहान्त होने पर शासन का भार राजमहिषी मलयबाई के कन्धे पर आ पड़ा। उस क्षत्रिय-वीराङ्गना ने राज्य का प्रबन्ध बहुत अच्छा किया। वह हिन्दू-हितों के लिये रात-दिन मरने-जीने को तैयार रहती थी। आदर्श हिन्दू-विधवा की तरह भागवत-गीता-रामायण आदि धर्म-ग्रन्थों का पारायण करना उसके दैनिक जीवन का एक मुख्य अङ्ग था।

विजय सम्पादन करते-करते महाराज शिवाजी बल्लारी के निकट आ पहुँचे। रानी ने बिना संग्राम के अपनी स्वाधीनता को खो बैठना या पराजय स्वीकार कर लेना उचित नहीं समझा। यद्यपि वह अच्छी तरह समझती थी कि महाराज शिवाजी सारे देश में एकछत्र हिन्दू-राज्य की स्थापना कर विदेशियों से राज-सत्ता छीन लेना चाहते है और उसे इस पुनीत काम में सहयोग देना चाहिये ; फिर भी राजधर्म ने उसे विवश किया कि वह रण करे, क्योंकि शिवाजी ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था। जिस नरकेशरी ने दिल्ली का तख्त डगमगा दिया था, उसके सामने तलवार खींचकर रण करने का वीर क्षत्राणी ने व्रत लिया। सत्ताईस दिनों तक लड़ाई होती रही, अन्त में मराठों ने किले पर अधिकार कर लिया और मलयबाई कैद कर ली गयी।

शिवाजी ने किले में दरबार किया, मलयबाई को शिवाजी ने आदर से निकट के आसन पर बैठाय। मलयबाई ने कहा,

'महाराज! आप इस देश के राजा हैं। मैं इस छोटे-से किले

की रानी हूँ। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार राजधर्म का पालन किया है। आप राजधर्म और क्षत्राणी के कर्तव्य जानते है। मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया, मैं आपसे किसी प्रकार का अनुग्रह नहीं चाहती हूँ।'

महाराज शिवाजी ने रानी की भरे दरबार में स्तुति करते हुए कहा, 'मा। आप आदर्श राजपत्नी है ; जब तक मेरी भुजाओं में बल है और तलवार-भवानी की कृपा है, किसी मे भी इतनी शक्ति नहीं है कि यह दुर्ग आप से छीन ले। इस पुत्र की केवल यही कामना है कि आप मेरे अपराध को भूल जायँ और मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपनी मातृभूमि को विदेशियो के हाथ से मुक्त कर स्वराज्य की स्थापना करूँ।'

मलयबाई की आँखों में पुत्र-प्रेम की गङ्गा-यमुना बहने लगी। उसने वीर हिन्दू-सन्तान को मातृत्वशक्ति का अभय दान दिया।

महाराष्ट्र की वीराङ्गना ताराबाई

वीराङ्गना ताराबाई महाराज शिवाजी की पुत्र-वधू और राजाराम की पत्नी थी। महाराष्ट्र के इतिहास में वह एक बहुत बड़ी शक्ति समझी गयी है और शिवाजी के देहावसान पर उसने ही स्वराज्य की लड़ाई का नेतृत्व किया। इतिहास की पुनरावृत्ति

हो रही थी, सन् १६७४ ई० मे शिवाजी ने राज्याभिषेक किया और हिन्दू-पद-पादशाही की घोषणा की। शिवाजी की बड़ी-बड़ी योजनाएं थीं, लेकिन १६८० ई० मे उनकी मृत्यु हो जाने से उनमे से कुछ ही कार्यान्वित हो सकीं। शम्भाजी ने राजकार्य सम्हाला। उसके बाद शाहू राजा हुआ, पर पकड़ा गया और औरंगजेब ने उसे कैद में डाल दिया। शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम से मुगल बहुत डरते थे, १७०० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। वीराङ्गना ताराबाई ने इस विकट स्थिति में वीरता और साहस से काम लिया; रामचन्द्र पन्त अमात्य की सहायता से उसने सारे महाराष्ट्र को देश, जाति और धर्म की रक्षा के लिये शिवाजी की पताका के नीचे एकत्रित किया। औरंगजेब ने १७०३ मे सिंहगढ़ किले पर अधिकार कर लिया और उसका नाम 'बकसिन्द बकसी' रक्खा।

ताराबाई अपने सेनापति शंकरनारायण की सहायता से मुगल राज्य मे दिन-दोपहर हमला करने लगी। वह महाराष्ट्रों को ललकारती रहती थी—'यदि हम सावधानी से विदेशियों को राष्ट्र और धर्म पर आघात करने से नहीं रोकेंगे तो हिन्दू-राज्य के सपने पूरे नहीं हो सकेंगे।' वह कहा करती थी—विदेशियों और विधर्मियों को देश से बाहर निकाल देने का समय आ गया है; यदि हिन्दू इस स्वर्ण-अवसर पर चूक जायँगे तो उन्हें बहुत दिनों तक पश्चात्ताप करना पड़ेगा।' इतिहासकार खफीखाँ ने इस वीराङ्गना की बड़ी प्रशंसा की है। वह लिखता है कि

ताराबाई महाराष्ट्र के हृदय पर आधिपत्य स्थापित कर बड़े उत्साह और वीरता से मुगल राज्य के प्रदेशों पर छापा मारने लगी। सैनिक उसके वीर-वचन सुनकर मर-मिटने के लिये तैयार हो जाते थे। हिन्दू-राज्य की नींव दृढ़ करना ही उसके सामने एक बहुत बड़ा काम था और उसीमें उसने अपना सारा जीवन खपा दिया। सन् १७०५ ई० में औरंगजेब ने सिंहगढ़ से घेरा उठाकर बीजापुर की ओर कूच कर दिया। सिंहगढ़ पर मराठों का फिर अधिकार हो गया। शाहू मुगलों का बंदी था। औरंगजेब ने उसकी ओर से सहायता के लिये कहला भेजा, परन्तु बुद्धिमती ताराबाई औरंगजेब की धूर्तता और छल-नीति से परिचित थी। उसने महाराष्ट्र के सैनिकों से कहा, 'वीरो! यद्यपि शाहू का विवाह कर धूर्त आलमगीर ने उसे मेरे ससुर की तलवार दे दी है, फिर भी हमें शाहू की सहायता कभी न करनी चाहिये। वह तो विभीषण है। वह जयचन्द की तरह हिन्दुस्तान को एक बार फिर यवनों के हाथ में सौंप देगा।' यदि देश वासी दुश्मन की सहायता करते हों, हिन्दुत्व को मिटाने की योजना और कपटपूर्ण नीति में सहयोग देते हों, तो सारे देश को चाहिये उनसे असहयोग कर राज-शक्ति अपने हाथ में ले लें। आज राष्ट्र के बनने-बिगड़ने का प्रसंग उपस्थित है। यवनों और देशद्रोहियों ने सदा हमारे साथ धोखा किया; उनसे सावधान रहना ही हमारे लिये हितकर है, विदेशियों और देश-द्रोहियों पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता।' तारा के

वीरता-पूर्ण शब्दों ने महाराष्ट्रीय सैनिकों के हृदय मे वीरता और उत्साह भर दिया, उन्होंने तलवार खींचकर कहा—'माता! हमें वस्तुस्थिति का पूरा ज्ञान है। जब तक दम है, यवन महाराष्ट्र की पवित्रता को नष्ट नहीं कर सकते, हम विधर्मियों के दाँत खट्टे कर देंगे।' 'हर हर महादेव!' और ताराबाई के जयनाद से सारा-का-सारा वातावरण गूँज उठा।

ताराबाई ने पूना पर अधिकार कर लिया। परन्तु उसके सहयोगी धनजी ने विश्वासघात किया। वह देशद्रोही शाहू से मिलकर इस वीराङ्गना के विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगा। शाहू ने तारा के सहायकों को मरवाना आरम्भ किया, परन्तु तारा ने साहस से काम लिया। उसका आशा-केन्द्र, शंकरनारायण था। महाराष्ट्र सैनिकों ने शंकरनारायण के सेनापतित्व में पुरन्दर किले पर धावा बोल दिया। ताराबाई ने किले पर अधिकार कर लिया। उसके सैनिकों में केवल एक शक्ति काम कर रही थी और वह थी हिन्दू-पद-पादशाही। सारा-का-सारा महाराष्ट्र ताराबाई की नि.स्वार्थ देश-सेवा और धर्म-प्रेम से परिचित था। लोग जानते थे कि हिन्दू-राज्य की दृढ़ स्थापना के लिये ही उसने सुख और राजमहल पर लात मार दी है।

सन् १७४९ ई० में ग्रहण समाप्त हो गया। शाहू की मृत्यु हो गयी बालाजी पेशवा पूना पर अधिकार कर राजसत्ता हड़पने की योजना बना रहा था। ताराबाई को उसकी चाल का पता लग गया, वह बालाजी को सदा दबाये रखना चाहती थी, क्योंकि

उसे आशङ्का थी कि ऐसा न हो वह निजाम से सन्धि कर

महाराष्ट्र की राजसत्ता विनष्ट कर दे। शाहू के मरने पर तारा का पौत्र रामराज गद्दी पर बैठा, परन्तु पेशवा शाहू द्वारा दिये गये अपने अधिकार सुरक्षित रखना चाहता था। इधर तारावाई सत्तर साल की हो चुकी थी; उसका स्वामिभक्त सेनापति शंकर-नारायण, जिसकी प्रतिज्ञा थी कि तारावाई का साथ कभी न छोड़ूँगा, शाहू द्वारा धमकाये जाने पर जल-समाधि ले चुका था। तारावाई ने कहला भेजा कि 'मैं पति की समाधि का दर्शन करने के लिये सिंहगढ़ जा रही हूँ, मुझे महाराष्ट्र की नेत्री के रूप मे प्रचार करने की चेष्टा और प्रयत्न कीजिये।' पेशवा को यह वात अच्छी न लगी, वह तो सारे महाराष्ट्र को हड़पने की ताक मे था। पंत सचिव ने अपने अधिकारों को अक्षुण्ण वनाये रखने की मांग की। और इससे तारावाई के रुष्ट होने पर उसने रामराज को कैद कर लिया।

तारावाई कोल्हापुर चली गयी और वालाजी को पराजित करने की योजना वनाने लगी। पेशवा डर गया। रामराज छोड़ दिया गया। तारावाई ने पूना पर अधिकार कर लिया। परन्तु वालाजी पुनः निजाम की सहायता से पूना का राजा वन वैठा।

इस प्रकार तारावाई का सारा-का-सारा जीवन हिन्दू-पद-पादशाही की रक्षा मे वीता। इतिहासकार खफीखाँ ने लिखा है कि वह वड़ी वुद्धिमती, रणकुशल और कूटनीतिज्ञ थी। उसका राजप्रवन्ध और सैन्य-संचालन का तरीका अच्छा था।

सचमुच वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

वीराङ्गना सुन्दरबाई

आर्य-नारियों ने समय-समय पर अपनी वीरता और साहस की कड़ी परीक्षा देकर अपने सतीत्व और स्वाभिमान को सुरक्षित रक्खा है। कायरता मनुष्य की सब से बड़ी अयोग्यता है। वीरता उसका सब से बड़ा बल है। क्षत्राणियों की जीवन-सहचरी वीरता ही थी, उनके चरित्र में से वीरता का अंश निकाल लिया जाय तो उनमें और एक साधारण नारी में कुछ भी अन्तर नहीं दीखेगा।

कुछ ही समय पहले की बात है, शैलपुर का केशरीसिंह राजा था। उसकी लड़की का नाम सुन्दरबाई था। 'यथा नाम तथा गुणः' की सार्थकता की वह प्रतिमूर्ति ही थी। उस समय आस-पास में उसके समान सुन्दरी कन्याएँ कम ही थीं। वह संस्कृत-की पूर्ण पण्डिता थी। राजनीति का उसे अच्छा ज्ञान था। जिस तरह वह सुन्दरता में अद्वितीय थी, उसी तरह न्याय-शास्त्र में भी पारङ्गता थी। वचन की बड़ी पक्की थी। सोलह साल की अवस्था में ही उसने राजकन्या के लिये आवश्यक सारे गुणों में पूरी-पूरी योग्यता पा ली थी।

एक दिन वह राजोद्यान में सहेलियों के साथ विचर रही थी। आपस में राग-रंग की बातें हो रहीं थीं। सहेलियाँ तरह-तरह के आमोद-प्रमोद से राजकुमारी का मन बहला रही

थीं। एक ने कहा कि 'जब मैं पति के घर जाऊँगी तो उसके साथ अमुक बर्ताव करूँगी।' राजकुमारी ने कहा कि 'मैं तो वल्लभीपुर के राजकुमार वीरसिंह की पत्नी बनकर उन्हें अपनी वीरता और पराक्रम से मोहित कर लूँगी।' संयोग से उसी उपवन में एक पेड़ के नीचे घोड़े की पीठ से उतरकर एक युवक सैनिक विश्राम कर रहा था। उसे यह बात समझने में थोड़ी भी देर न लगी कि बाग शैलपुर के राजा केशरीसिंह का है। वह तुरंत चल पड़ा, बीर युवक वल्लभीपुर का राजकुमार वीरसिंह था।

उसने वल्लभीपुर पहुँचकर पिता से सारी बातें बतला दीं और केशरीसिंह के पास विवाह के लिये सन्देश भेजा। राजा ने स्वीकृति दे दी। यथा समय विवाह हो गया, परन्तु वीरसिंह तो अपनी सहधर्मिणी की परीक्षा लेना चाहता था। सुन्दरबाई को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसके पति ने उससे मिलना-जुलना बंद कर दिया।

एक दिन वह सायंकाल राजमन्दिर में सखी-सहेलियों के साथ देवपूजन के लिये गयी। राजकुमार ने उससे वहीं मिलना उचित समझा। मन्दिर के भीतर पुरुषों को जाने की आज्ञा नहीं थी; परन्तु राजकुमार के लिये कोई रोक नहीं थी, वह अन्दर चला गया। उसने सुन्दरबाई को कहते सुना, 'परमात्मा! मेरे पति का मङ्गल हो।' राजकुमार ने कहा, 'तुमने जो प्रतिज्ञा बगीचे में की थी, उसे पूरी करो।' सुन्दरबाई की समझ में सारा कच्चा चिट्ठा आ गया। उसने एक वीर क्षत्राणी की तरह

देवता के सामने पति की उपस्थिति मे यह बात दुहरायी कि मैं

सिद्ध करके ही रहूँगी कि राजपूतानी की बातों में कितनी दृढ़ता होती है।'

दूसरे ही दिन उस बुद्धिमती ने पिता के पास गुप्त रूप से एक पत्र भेजा कि 'मेरे लिये एक घोड़ा और कवच भेज दीजिये।' उसने उस पत्र मे अपनी प्रतिज्ञा की भी बात लिख दी थी। केशरीसिंह ने शैलपुर से वल्लभीपुर तक एक सुरंग खुदवा डाली और पुत्री द्वारा माँगी गयी वस्तुएँ उसके पास भेज दीं।

वल्लभीपुर का दरबार लगा हुआ था, बड़े-बड़े सामन्त और सरदार बैठे हुए थे। राजकुमार वीरसिंह भी पिता के वामकक्ष में उपस्थित थे। इतने मे ही एक घुड़सवार ने 'जुहार' की रस्म अदा कर नौकरी के लिये आवेदन-पत्र दिया। राजा ने उसकी सुन्दरता की ओर आकृष्ट होकर पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है और किस तरह की नौकरी चाहते हो?' उसने अपना नाम रत्नसिंह बतलाया और निर्भीक होकर कहा—'मैं युद्ध में वह काम कर सकता हूँ, जो किसी वीर से न हो सके।' राजा बड़े प्रसन्न हुए और वीरसिंह तो दंग रह गये। उसे नौकरी मिल गयी। राजकुमार वीरसिंह और रत्नसिंह मे धीरे-धीरे खूब पटने लगी। दोनों एक दूसरे के मित्र हो गये, यहाँ तक कि बिना एक दूसरे को देखे उन दोनों को कल नहीं पड़ता था। दोनों साथ-ही-साथ जंगल मे शिकार खेलने जाते थे और जीवन का अधिकांश समय एक ही साथ बिताते थे। कभी रत्नसिंह वीरसिंह के मुख से यह सुनकर कि 'सुन्दरबाई तो बड़ी

कठोरहृदया है, मेरा तनिक भी खयाल नहीं करती' रत्नसिंह ठहाका मारकर हँस पड़ता था। एक बार रत्नसिंह ने राजा के कहने पर एक सिंह को मार डाला, जो नगर-निवासियों को एक-एक करके रात मे भक्षण कर लिया करता था। राजा और वीरसिंह दोनों उसे श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखने लगे। इसके कुछ ही दिनों बाद वल्लभीपुर पर एक समीपवर्ती राजा ने अधिकार कर लिया और वीरसिंह को कैद कर लिया। वीरसिंह को यह नहीं मालूम था कि रत्नसिंह पुरुष नहीं, उसकी पत्नी सुन्दरबाई है। अपने पिता की सहायता से उसने वल्लभीपुर पर अधिकार कर लिया और शत्रुओं को नगर से बाहर कर दिया। शैलपुर से सुरंग के रास्ते से ही वल्लभीपुर में सेना आयी थी; वीरसिंह और उसके पिता को आश्चर्य हुआ कि जिस सुरंग का उन्हें पता तक नहीं था, यद्यपि वह उनके ही महल तक थी, रत्नसिंह ने किस तरह उसका भेद जान लिया। राजा ने उसे अच्छी तरह पुरस्कृत किया।

एक दिन रत्नसिंह की बड़ी खोज हुई, परन्तु पता न चला। राजकुमार वीरसिंह को पता चला कि वह अभी-अभी सुन्दरबाई के महल में गया है। राजकुमार का चेहरा लाल हो गया। महल में जाकर उसने सुन्दर से पूछा—'रत्नसिंह कहाँ है .... सुन्दरबाई ने चरणों में गिरकर सारी बातें बतला दीं, स्त्री-पुरुष गले मिले। परीक्षा समाप्त हो गयी, क्षत्राणी ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर पति का मन वश में कर लिया।

सती पुष्पावती

छठवीं या सातवीं सदी मे वल्लभीपुर एक समृद्धिशाली राज्य था। उस समय वल्लभीपुर महाराज शीलादित्य के अधीन था जो अपने समय के एक बहुत ऐश्वर्यशाली और शक्तिशाली राजा समझे जाते थे। चन्द्रावती के परमार राजा की कन्या पुष्पावती से राजा शीलादित्य का विवाह हुआ था। रानी बड़ी रूपवती, साध्वी और वीरहृदया थी; उसकी गुण-सम्पन्नता की कहानी दूर-दूर तक फैली हुई थी। रानी का अधिक समय पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप-नियम आदि पवित्र और शुभ कर्मों में ही बीतता था।

एक बार वह अम्बा देवी के मन्दिर में मनौती चढ़ाने गयी थी। अम्बा देवी का मन्दिर राज्य मे ही था, पर वल्लभीपुर से कम-से-कम दो दिन के रास्ते की दूरी पर था। अचानक वल्लभीपुर पर बर्बरों ने आक्रमण कर दिया। शीलादित्य ने राजधानी की रक्षा करने के लिये विकट युद्ध किया। दुश्मन मैदान छोडकर भागनेवाले ही थे कि वल्लभीपुर के ही एक निवासी की सहायता से उन्होंने सूर्यकुण्ड की पवित्रता नष्ट कर दी। उस समय लोगों का यह विश्वास था कि इसी सूर्यकुण्ड से सूर्य देवता के सात घोड़े (सप्ताश्व) निकलकर राजा की लड़ाई में सहायता करते हैं। आक्रमणकारियों ने कुण्ड में

गोवध कर दिया और उसका महत्त्व समाप्त हो गया। इस किंवदन्ती का यह भी आशय था कि आक्रमणकारी कुएँ में गोवध कर डाल देते थे, हिन्दू पानी नहीं पाते थे और अन्त में उनको आत्म-समर्पण करना पड़ता था। टॉड ने भी लिखा है कि अलाउद्दीन तथा अन्य यवनाधिपतियों ने चित्तौड़-आक्रमण के समय भी यही नीति अपनायी थी।

वल्लभीपुर पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया। राजा लड़ाई में मारे गये। वल्लभीपुर का विशाल राजप्रासाद श्मशान हो गया। असंख्य नारियों ने चिता में जलकर आत्म-यज्ञ की अन्तिम आहुति दी। इस प्रकार इधर वल्लभीपुर मरघट बन रहा था, उधर रानी पुष्पावती ध्यानमग्न होकर देवी की आरती उतार रही थी। सोने की थाली हाथ से गिर पड़ी। घी के दीप बुझ गये। रानी ने मन-ही-मन किसी अनिष्ट की कल्पना की। रानी की पालकी वल्लभीपुर की ओर चली। उस समय रानी गर्भवती थी, रानी की पालकी लेकर कहार पवन के वेग से आगे बढ़ रहे थे। रानी ने ओहार उठाकर देखा कुमुदिनीपति सुधा-कलश लेकर मलय पहाड़ की हरी भूमि पर प्रकृतिदेवी का अभिनन्दन कर रहा है। उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि दिशाएँ काली पड़ती जा रही हैं; झाड़ियों में, लतिकाओं में उदासी छा गयी है। दो-ही-तीन पल बीते थे कि वल्लभीपुर के राजदूत ने पालकी रोकने का अनुरोध किया। पुष्पावती ने समझा कि प्रियतम ने शुभ सन्देश भेजा होगा।

शुभ सन्देश ही तो था, स्वर्ग में जाने का शुभ आमन्त्रण था।

रानी पालकी पर से उतर पड़ी, उसने सब वृत्तान्त सुनकर वहीं चिता सजाने की आज्ञा दी। राज-सैनिकों ने कहा—'माता! इस समय पाँव भारी है।' रानी बिजली की तरह कड़क उठी, 'पति का स्वर्गगमन सुनकर राजपूतानी का एक पल भी जीवन-धारण करना महा पाप है। पति मुझे स्वर्ग में बुला रहे हैं और मैं विलम्ब करूँ, यह असम्भव है।' परन्तु सैनिकों के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने सोचा कि 'गर्भगत बालक की रक्षा करना माता का परम कर्तव्य है, यही राज-सन्तान बर्बर आक्रमणकारियों को मटियामेट कर देश की सीमा पर हिन्दुओं का आधिपत्य स्थापित करेगी।' रानी ने आदर्श मातृत्व का परिचय दिया। उसके लिये राजमहल नरक बन चुका था। वह मलय पहाड़ के जंगल में एक गुफा में रहने लगी।

कुछ ही महीनों के बाद राजकुमार गुह का जन्म हुआ। सन्तान पैदा हो जाने के बाद एक पल भी जीवन-धारण करना पुष्पावती के लिये महा मरण था। रानी ने अपने प्यारे पुत्र के लालन-पालन का भार बड़नगर के एक ब्राह्मण की कन्या को, जो बड़ी सुशील और धर्मपरायण थी, दिया।

रानी ने कहा—'बहन! तुम्हारा कर्तव्य यही है कि इस बालक को पाल-पोसकर इस योग्य बना दो कि वह आततायियों और विधर्मियों को तलातल मे पहुँचाकर सारे भारतवर्ष में हिन्दूधर्म का ध्वज फहरा दे। एक बात का और स्मरण रखना होगा कि इस राजकुमार का विवाह राजपूत-कन्या से ही हो।'

मलयज चन्दन की चिता धायं-धाय जल रही थी। अग्नि सैकड़ों जीभ फैलाकर रानी को पतिलोक मे ले जाने के लिये आकाश चूमने की उत्सुकता दिखा रही थी। चिता के समीप पुष्पावती राजकुमार गुह को गोद मे लेकर खड़ी थी। दो दिन का शिशु चुपचाप माता की साधना देख रहा था। वह 'कहाँ-कहाँ' कर रहा था। रानी ने एक बार उसके भोले मुख की ओर देखा और चिता मे कूद पड़ी।

वल्लभीपुर मिट गया, उसका चिह्न भी नहीं है; लेकिन पुष्पावती के यश की सुगन्ध मलय पहाड़ के वन-उपवन में व्याप्त है।

सती जसमा

पाटन का राजा सिद्धराज बड़ा विलासी था। वह कितनी ही युवती नारियों का धर्म भ्रष्ट कर चुका था। उसके यौवन की आँधी में कितनी ही भोली स्त्रियों को अपना सतीत्व खोना पड़ा। उसके कुछ गुप्तचर नगर में सौन्दर्य और यौवन-सम्पन्न रमणी की ही गवेषणा में यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे।

नगर के पास उसने एक सरोवर खुदवाने की योजना बनायी। शुभ मुहूर्त मे सरोवर का काम आरम्भ हुआ।

सहस्रों श्रमिक काम करने लगे। उनके रहने के लिये झोंपड़ियां पास ही बनी थीं। मजदूरों का मुखिया भीकम था और उसीकी सहधर्मिणी थी जसमा। जसमा अपूर्व सुन्दरी थी। काम करते हुए एक दिन सिद्धराज ने उसे देखा तो कलेजा थाम लिया। 'इतना सुन्दर रूप ?' एक बार वह चकित हो गया। जसमा सहित भीकम को बुलाकर उसने कहा—'तुम लोग यह काम छोड़कर महल में अच्छी नौकरी कर लो तो कैसा रहे ? जसमा अन्तःपुर में रह लेगी।'

भीकम का मन नृत्य कर उठा। महल मे काम करने का सौभाग्य असाधारण है। पर जसमा ने सिद्धराज की आंखों में विष देखा, उसने पति को प्रस्ताव अस्वीकृत कर देने का संकेत किया। 'महाराज। हम लोगों का यही काम ठीक है।' उत्तर देकर दोनों दम्पति पुनः अपने काम में जुट गये।

उसी दिन आधी रात के समय जब समस्त संसार निद्रा-देवी की सुखदायिनी गोद में विश्राम कर रहा था, सिद्धराज के दो सैनिक भीकम की झोंपड़ी में प्रवेश कर गये। एकने कहा—'भीकम ! अपनी पत्नी जसमा को हमें सौंप दो। यह राजरानी बनेगी।' जसमा क्रोधोन्मत्त हो गयी। वह तुरंत अपनी कमर से छुरा निकाल कर सिंहिनी की तरह उस सैनिक पर टूट पड़ी। छुरा उसके कलेजे में घुसेड़ दिया। सैनिक की सांस वहीं निकल गयी। दूसरा अपना प्राण लेकर राजा के पास भागा।

अपने सैनिक की मृत्यु का समाचार सुनकर सिद्धराज होंठ काटने लगा। भीकम और जसमा को कैद कर लेने के लिये उसने मन्त्री को आज्ञा दी। मन्त्री ने कहा—'राजन्! मैं आपके पिता के समय से न्याय करता आ रहा हूँ। आज भी अन्याय नहीं करूंगा। भीकम का दोष नहीं है। दोषी आप हैं। इस अधम-कृत्य मे मुझ से सहायता की आशा आप न करें। जसमा सती नारी है, यह भी आप न भूलें।' सिद्ध-राज ने क्रोध करके मन्त्री को कैद कर लिया।

सहस्रों सैनिक मजदूरों की झोंपड़ियों पर पहुँचे। सारी झोंपड़ियाँ खाली थीं। सब-के-सब वहाँ से चल पड़े। भीकम और जसमा घबराते हुए जा रहे थे कि राजा के सैनिक आकर हमारी हत्या कर डालेंगे। सैनिकों ने मजदूरों को पकड़ने के लिये घोड़ों को जोरों से दौड़ाया। कुछ ही आगे जाने पर श्रमिक-दल दीख गया। घोड़ों की टाप-ध्वनि सुनकर भीकम के पैर के नीचे से पृथ्वी सरक गयी।

श्रमिकों ने भी अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। युद्ध छिड़ गया। लोथ-पर-लोथ गिरने लगी। खून की धारा बह चली। जसमा के हाथ में तलवार चमक रही थी। उससे वह बड़ी तीव्रता से शत्रुओं का संहार कर रही थी। प्रायः सभी सैनिक और श्रमिक धराशायी हो गये। जसमा ने इने-गिने सैनिकों को भी यमपुर भेज दिया। अब केवल सिद्धराज बच गया था। उसे देखते ही जसमा चण्डी बन गयी। 'नारकीय

कुत्ते कहीं के !' कहती हुई जसमा ने एक ही हाथ में सिद्धराज

का मस्तक धड़ से अलग कर दिया। मस्तक छटक कर दूर गिर पड़ा। धड़ छटपटाने लगी।

लाशों के बीच में अकेली जसमा थी। उसने अपने पति की लाश ढूँढ़ ली। उसका हृदय तड़प उठा। दूसरे ही क्षण उसने अपने कोमल कलेजे मे तलवार की नोंक धँसा ली और अपने प्रियतम की निर्जीव देह पर गिर पड़ी। उसके प्राण इस अधम जगत् को छोड़कर पवित्र लोक में चले गये। रक्त में सनी लाशों को देखकर कलंकी चन्द्र हँस रहा था।

लोगों ने वहीं पर दोनों की समाधि बनवा दी। आज भी माघ-पूर्णिमा को वहाँ मेला लगता है। सहस्रों स्त्री-पुरुष उस समाधि पर पुष्प-मालाएँ चढ़ाते तथा अभीष्ट-पूर्ति के लिये श्रद्धा-भक्ति से प्रार्थना करते है।

सती रूपमती

शील और आचार किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं। वह तो पवित्र सुरसरि की धारा है। प्रत्येक को इसमें निमग्न होने का अधिकार है। जो इसमें स्नान करेगा, पवित्र हो जायगा। उसके पाप-ताप धुल जायँगे और वह लोकपूजित हो जायगा।

रूपमती एक वेश्या की पुत्री थीं। माता ने उन्हें नृत्य एवं

संगीत सिखलाया था। संगीत-कला में वे इतनी कुशल थीं कि कहते है, प्रसिद्ध गान-विशारद तानसेन भी उनसे कुछ सीख गये थे। उज्जैन से ५५ मील दूर मालवा में उनका जन्म हुआ था, किन्तु उनकी कीर्ति सम्पूर्ण देश मे व्याप्त हो गयी थी। मालवा-नरेश बाजबहादुर नृत्य-गीत के विख्यात प्रेमी थे। रूपमती का जब अपने राजा से साक्षात् हुआ तो बाजबहादुर कला पर और रूपमती उनकी गुणग्राहकता पर मुग्ध हो गयीं। बाजबहादुर को उन्होंने अपना हृदय समर्पित कर दिया और नरेश ने भी उन्हें अपनी समस्त रानियों से अधिक सम्मान दिया। उनके लिये पृथक् भवन बनवा दिया गया।

रूपमती विवाहिता स्त्री से भी अधिक बाजबहादुर की सेवा मे संलग्न रहा करती थीं। उन्होंने नरेश को अपना पति मान लिया था और सदा उनकी आज्ञा का पालन करती थीं। बाज-बहादुर का रूपमती पर अपार प्रेम था। वे प्रायः रात-दिन उनके ही साथ रहते थे। रूपमती बाण-विद्या में निपुण थीं। उन्हें अश्वपरिचालन का पूरा ज्ञान था और आखेट उन्हें रुचिकर था। आखेट मे उनका अश्व बाजबहादुर से आगे चलता था।

एक दिन रूपमती नरेश के साथ आखेट को वन में गयी थीं। साथ के सेवक पीछे छूट गये। सहसा भीलों ने आक्रमण कर दिया। नरेश पर विपत्ति देखकर रूपमती ने घोड़े की लगाम दातों से पकड़ी। धनुप चढ़ाकर उन्होंने घोड़ा आगे

बढ़ाया। उनकी तीव्र बाण-वृष्टि ने भीलों को विचलित कर दिया। बाजबहादुर भी शर-वर्षा कर रहे थे। भीलों मे से कुछ मारे गये और शेष आहत होकर भाग खड़े हुए।

अब तक मालवा ने बादशाह अकबर के सामने मस्तक नहीं झुकाया था। राजा बाजबहादुर के भोगविलास का समाचार पाकर अकबर ने सन् १५६० में एक बड़ी सेना अहमदखाँ के नेतृत्व मे भेज दी। भयङ्कर युद्ध हुआ। बाजबहादुर को पराजित होना पड़ा। वे भाग गये। जब अहमदखाँ ने अन्तःपुर में प्रवेश किया तो उसने देखा कि राजा के आदेशानुसार राज-सेवकों ने सभी स्त्रियों को तलवार के घाट उतार दिया है। अहमदखाँ के कानों में रूपमती की कीर्ति पहुँची थी। वह उनको पाना चाहता था। पता लगाने पर मूर्च्छित दशा में रूपमती मिलीं। वे कम घायल हुई थीं और भ्रम वश सेवक उन्हें मृत समझकर छोड़ गये थे।

'पतिविहीन होकर जीने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं कितनी अभागिनी हूँ कि पति के इच्छानुसार मेरा अन्त नहीं हुआ। पति का नाम लेते हुए मुझे शान्ति से मरने दो।' मूर्छा दूर होने पर रूपमती ने अपनी चिकित्सा मे लगे लोगों से कहा। उन्होंने औषध लेना अस्वीकार कर दिया और पट्टी नोंच फेंकने को उद्यत हो गयीं।

'बाजबहादुर जीवित है। वे केवल भाग गये हैं। अच्छी होने पर तुम्हें उनके पास भेज दिया जायगा।' अहमखाँ ने

धूर्तता पूर्वक आश्वासन दिया। रूपमती को विश्वास हो गया। उन्होंने औषधि ले ली तथा पट्टी बाँधने दी। उनके इच्छानुसार अहमदखाँ ने उन्हें शेख अहमदनी के पास भिजवा दिया। वे एक धार्मिक पुरुष थे। बाजबहादुर की उन पर श्रद्धा थी। रूपमती ने इन अपरिचितों के मध्य मे रहने की अपेक्षा वहाँ रहना अच्छा समझा। ठीक होने पर जब उन्होंने बाजबहादुर के पास जाने की इच्छा प्रकट की, तो उत्तर मिला कि 'बाजबहादुर अभी बादशाह का शत्रु है। जब तक बादशाह के पास उपस्थित होकर वह क्षमा न माँगे और बादशाह उसे क्षमा न कर दें, तब तक उसके पास किसी को भेजा नहीं जा सकता।'

'चलो, खाँ आपको याद करते हैं। अब बाजबहादुर निर्धन हो गया। खाँ का राज्य है। उन्हें प्रसन्न करने में ही अब तुम्हें सुख मिलेगा।' यह सन्देश उसी दिन शाम को अहमदखाँ के दूत ने सुनाया। रूपमती को अब उसके भाव का पता लगा। उसने सोचा, प्रतिवाद करना व्यर्थ है। दुष्ट अहमदखाँ को कोई रोकनेवाला नहीं। वह पकड़ मँगावेगा और बल-प्रयोग करेगा। बड़ा दुःख हुआ उस सरलहृदया को।

'खाँ को कहना, मैं उनकी बाँदी हूँ। मेहरबानी करके आज वे यहीं आवें। मैं उनका इंतजार करूँगी।' दुःख एवं रोष के भाव को दबाकर रूपमती ने हँसते मुख दूत को सन्देश देकर विदा किया। उन्होंने स्नान किया। बहुत सुन्दर वस्त्र पहना। सब बहुमूल्य आभूषण धारण किये। वेणी में पुष्प गूँथे।

सम्पूर्ण शरीर मे इत्र लगाया। भली प्रकार शृङ्गार करके एक

शय्या पर बहुमूल्य आस्तरण डाला। उस पर फूल बिछाये। इस प्रकार पूरी तैयारी हो गयी।

'हे परमेश्वर। मैं आत्महत्या नहीं कर रही हूँ। मन से भी मैंने पति को छोड़कर किसी दूसरे पुरुष का चिन्तन नहीं किया है। मेरे शील की रक्षा का कोई और मार्ग रहा नहीं। मुझे क्षमा करो। परलोक में पति के चरण मुझे प्राप्त हों,' प्रार्थना करके रूपमती ने भयङ्कर विष पी लिया और मुख पर इत्र में सना रूमाल डालकर शय्या पर सो गयीं।

अहमद खाँ खूब सजकर आया। उसने समझा रूपमती मेरे आने में देर होने से रूठकर सो गयी है। पुकारने का परिणाम न होते देख मुख से रूमाल हटाया। नील ओठ, चढ़े नेत्र, विचित्र आकृति। पीछे हट गया वह। सिर पीट लिया उसने अपना। रूपमती के सतीत्व ने उस पाषाण को पिघला दिया था।

सारंगपुर मे एक तालाव के पास रूपमती की समाधि है। मालवा में रूपमती के निर्मित सरस पद अब तक प्रेम से गाये जाते हैं। रूपमती एवं बाजबहादुर के चित्र अनेकों मिलते है। उनके अमर प्रेम की अनेक गाथाएँ प्रचलित है। रूपमती अच्छी कवि थीं। उनकी कविता में प्रेम का गौरव-गान है। उनके एक पद का भाव है—

'दूसरे, दूसरी सम्पत्तियों का संग्रह करें। मेरा धन तो प्रियतम का प्रेम है। प्रेम का धन मैं सब की दृष्टि से बचाकर-

हृदय में रखती हूँ। इस धन में कभी कमी नहीं होती। मेरी सम्पत्ति दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती है। मैंने अपने को प्रियतम को समर्पित कर दिया है। मेरा प्रेम-धन अनन्त है।'

सती जासल

'मुँह में कालिख लगा दी रांड़ ने।' घर में पैर रखते ही सौत ने पति से शिकायत की। पति दो दिन बाद बाहर से लौटा था। 'क्या हो गया?' चकित होकर उसने तुरंत पूछा। वह बैठ भी नहीं पाया। 'पाप चढ़ गया है सिर पर उसके' जासल की सौत पति से धीरे-धीरे कहने लगी 'पूरे बीस वर्ष के हट्टे-कट्टे जवान को बुलाया था इसने। अपनी कोठरी में रोटी-दूध और गुड़, पंखा झलकर खिलाया था। वह घोड़े पर चढ़-कर चलने लगा तो यह फफककर रोने लगी। घंटों रोती रही। वंश की नाक कट गयी।'

बेचारा पति सिर थामकर वहीं बैठ गया। उसे क्या पता था कि पानी भरते समय जासल ने अश्वारोही लाघवा को देखा था। प्यास से लाघवा की जबान ऐंठ रही थी और घोड़ा मुँह से झाग फेंक रहा था। 'बहिन! मेरा घोड़ा और मैं बहुत प्यासा हूँ', लाघवा ने कहा था। भ्रातृ-विहीना जासल को

'बहिन' शब्द अत्यन्त प्यारा लगा था। उसने लाघवा और उसके घोड़े को तुरंत पानी पिलाया। विश्राम के लिये प्रार्थना की। लाघवा पीछे-पीछे साथ ही आया था। 'बहिन का मुफ्त में नहीं खाना चाहिये' कहते हुए लाघवा ने जासल को बीस मोहरें दी थीं। उस दिन दोनों धर्म के भाई-बहिन बने थे। लाघवा ने पुनः आने का वचन दिया था। उसके जाते समय जासल आँसू के भार नहीं सँभाल सकी थी। घोड़ा सब्र से निकल गया था। जासल की आँखें बरसने लग गयी थीं।

'आप उदास कैसे ' डरते-डरते जासल ने पति से पूछा। पति को सिर थामे देखकर कलेजा उसका धक्-से हो गया था।

'नागिन कहीं की!' पति ने जासल को कोसना शुरू किया। 'जवानी के नशे में ' वह बड़बडा रहा था।

'जाति मे मुँह दिखाने लायक हम नहीं रहे', जासल की सौत पुनसरी ने पति को सुनाकर कहा। रहस्य का पता जासल को अब लगा। हाँफता और गाली बकता हुआ उसका पति बाहर निकल गया।

'मा जगदम्बे!' रोते-रोते जासल ने अत्यन्त करुण प्रार्थना की। 'मुझे तेरी ही आशा है। तू यदि जानती है कि मैं शुद्ध हूँ और लाघवा को अपना भाई समझती हूँ तो भरी जवानी में मेरी लाज बचा'

× × × ×

गाँव के समस्त स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े जासल के सामने हाथ

जोड़े खड़े थे। जासल के कर्णफूल से सिन्दूर की वर्षा हो रही थी।

'मेरा पत्र मेरे भाई लाघवा को अत्यन्त शीघ्र कोई पहुँचा दे', जासल ने धीरे से कहा। 'तेरी बहिन आध घंटे में सती होने जा रही है, तू शीघ्र चलकर मिल ले, कह देना है।'

एक युवक आगे बढ़ा, पत्र लेकर उसने सिर झुकाया और लाघवा के गाँव की ओर दौड़ पड़ा।

'जल्दी से चलने की तैयारी करो' पत्नी के हाथ में पत्र देता हुआ लाघवा आवश्यक सामग्री जुटाने बाहर चला गया। उसकी आँखें बरस रही थीं। शरीर थरथर काँप रहा था। 'मेरे कारण देवी को कलङ्क लगा।' मुँह में वह स्वयं कह गया।

'मैं तैयार हूँ', लाघवा के लौटते ही उसकी पत्नी ने कहा और बाहर निकल आयी।

× × × ×

'पिशाचिन मुँह छिपाये भाग रही थी', क्रोध से एक ने कहा। वह पुनसरी को घसीटते और पीटते ले आया था।

'छोड़ दो इसे,' चिता पर बैठी जासल ने कहा। 'यह निर्दोष है। सब मेरे कर्मों का फल है।' झाँझ, करताल और ढोल-मृदंग बजाने बंद कर दिये गये थे।

'दस मास बाद तुम्हारा अङ्क भरेगा,' पुनसरी से सती जासल

ने कहा। 'सन्तति न होने के कारण पतिदेव ने मुझ से विवाह

किया था, पर अब वह कष्ट दूर हो जायगा।' पति की ओर मुँह फेरकर उसने कहा—'पर आप इसे प्रेम-पूर्वक रखियेगा।'

'बहिन।' रोते हुए लाघवा ने कहा। वह तीन ऊँटों को बड़े जोरों से भगाता आया था। दो ऊँटों पर लकड़ी, नारियल, धूप और घृत तथा रोली आदि सामग्रियाँ थीं।

'चिता पर आ जाओ, भैया!' जासल ने बड़े प्रेम से कहा। चिता बड़े जोरों से जल रही थी।

'बहिन!' लाघवा का कण्ठावरोध हो गया था। चूनरी, रोली, नारियल, धूप-घृत आदि समस्त सामग्रियाँ उसने चिता पर चढ़कर बहिन के हाथों में दे दीं। प्रज्वलित अग्नि उसे शीतल लग रही थी।

'मैं तुम्हें क्या दूँ, भैया।' जलती सती ने कहा। 'धन-वैभव सब तुम्हारे पास हैं। पर तुम्हारे परिवार मे प्रभु-प्रेम घना रहेगा—इतना मैं कह देती हूँ।'

लाघवा और उसकी पत्नी रोते हुए हाथ जोड़े खड़े थे। झाँझ, मृदङ्ग और ढोल बज रहे थे। बीच-बीच में असंख्य नर-नारी 'सती जासल की जय!' के गगनभेदी घोष कर रहे थे।

देखते-देखते जासल की पार्थिव देह भस्म हो गयी।

× × × ×

दस मास बाद पुनसरी ने सन्तान का मुँह देखा और उसका वंश चलने लगा। जीवन के अन्तिम क्षण तक वह (सती जासल पर दोषारोपण करने के कारण) पश्चात्ताप करती रही।

कृष्णकुमारी

मेवाड़ राजपूत-शक्ति का केन्द्रस्थान था। ईसा की बारहवीं शताब्दी से लेकर छः सात सौ वर्ष तक क्रमशः पठान और मुग़लों के साथ युद्ध में प्रवृत्त रहकर, मेवाड़ जीर्ण और दुर्बल हो गया। जिस प्रकार बुझनेवाला दीपक बुझने के पूर्व एक बार तेज प्रकाश करता है, उसी प्रकार राजसिंह के राजत्वकाल में मेवाड़ ने भी राजस्थान में अपूर्व शक्ति दिखलाकर सबको चकित और स्तम्भित कर दिया था। किन्तु कुछ समय के बाद भारत की वीर पवित्र राजपूत-जाति दुर्बल हो गई।

इसी समय नई उठी हुई मराठा जाति, भारतवर्ष भर में अपनी शक्ति का विस्तार करने लगी। मराठों की प्रबल आग में पड़, भारत के अन्य हिन्दू, मुसलमान सभी जलने लगे।

यह भारत का दुर्भाग्य है कि हिन्दुओं ने आज तक कभी अपने को भारतव्यापी एक जातीय सूत्र में ही न बांधा। प्राचीन काल में इसी भारतवर्ष में कुश शक्ति थी, पाञ्चाल शक्ति थी, काशी, कोशल प्रभृति सहस्रों शक्तियां थीं—किन्तु एकत्र हिन्दू-शक्ति कहीं भी नहीं थी। जिस समय मुसलमान भारतवर्ष भर में छा गये, उस समय उनके विरुद्ध राजपूत शक्ति उठी, मराठा शक्ति उठी, सिक्ख शक्ति उठी और उत्तर-दक्षिण भारत में और

भी छोटी-छोटी अनेक शक्तियाँ खड़ी हुई, किन्तु समग्र भारत मे मिली हुई एक हिन्दू-शक्ति कहीं खड़ी न हुई। राजपूत बढ़े हुए अपने को राजपूत कहकर, मराठे बढ़े हुए अपने को मराठा कहकर, सिक्ख बढ़े हुए अपने को सिक्ख कहकर, किन्तु राजपूत, मराठा और सिक्ख आपस मे कभी नहीं मिले। हम भारतवासी हिन्दू हैं—यह समझकर इन लोगों ने कभी परस्पर मेल-मिलाप नहीं किया।

धीरे-धीरे जब मुसलमानी-शक्ति दुर्बल हुई, उस समय मरहठे, राजपूतों को हिन्दू समझ, उनको अपना भाई समझ उनका हाथ पकड़ते—अपने प्रथम जीवन की नूतन शक्ति से यदि मरहठे जीर्ण वृद्ध राजपूतों को जिलाते—सिक्ख लोग उत्तर से जाकर राजपूतों का दूसरा हाथ थामते, तो तीनों भाइयों की सम्मिलित हिन्दू-शक्ति आज भारत में अटल होकर जगत् में हिन्दुओं के गौरव का विस्तार करती। किन्तु विधाता की तो इच्छा ही कुछ और थी। इसीसे एक देश के एक जाति के, होने पर भी भाई से भाई न मिल सके। सिक्खों ने अपने घर में बैठकर अपना घर सजाया, घर के बाहर क्या हो रहा है; इस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। वे अपने को यहाँ तक भूले कि भाई को सहायता न देकर उल्टा उसके जीर्ण अङ्ग को छिन्नभिन्न किया। इस आघात को राजपूत न सह सके और एक-एक कर वे आत्म-रक्षा के लिए वैदेशिक शक्ति के अधीन होते चले गये।

राजपूत जाति की उस गिरती हुई दशा में, एक राजपूत-युवती

ने अपूर्व आत्मविसर्जन कर, राजपूत-महत्त्व का अन्तिम दृष्टान्त प्रस्तुत किया और स्वयं वह इस लोक से विदा हो गई। यह युवती मेवाड़ के राणा भीमसिंह की कन्या कृष्णकुमारी थी।

यह बड़ी रूपवती थी। यह अपने रूप की उत्कृष्टता के कारण "राजस्थान का कुसुम" कही जाती थी।

राजपूत-रमणियों का रूप ही सदा से राजपूत-जाति पर सङ्कट का कारण होता आया है। इसी नियमानुसार कृष्णकुमारी के रूप ने भी मेवाड़ में घोर उपद्रव उत्पन्न कर दिया।

मारवाड़ के राजा के साथ, कृष्णकुमारी का विवाह होनेवाला था। किन्तु विवाह होने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई, इसलिये जयपुर के राजा जगतसिंह के साथ, भीमसिंह की कन्या के विवाह होने की बात पक्की हुई। मारवाड़ के नवीन राजा मानसिंह ने कहला भेजा कि मारवाड़ के भूतपूर्व राजा का उत्तराधिकारी मैं हूँ, इसलिए कृष्णकुमारी के साथ मेरा ही विवाह होना चाहिए।

हम पहले कह चुके हैं कि इस समय भारतवर्ष में मरहठों की शक्ति सर्वोत्कृष्ट हो चुकी थी। उड़ीसा से लेकर गुजरात तक सारा मध्य भारत और गुजरात के दक्षिण से लेकर बम्बई तक सारा प्रदेश, मराठों के शासनाधीन हो गया था। इसके अतिरिक्त—मराठे सारे भारतवर्ष में मनमानी-लूटपाट करते थे, अथवा राजा तथा नवाबों से कर लेते थे। उस समय मराठा साम्राज्य पाँच भागों में विभक्त था। नागपुर में भोंसला,

ग्वालियर में सिन्धिया, इन्दौर में होल्कर, बड़ौदा मे गायकवाड़ थे। बड़ौदा के दक्षिण पूना मे पेशवाओं की राजधानी थी। मराठा साम्राज्य के प्रतिष्ठाता शिवाजी के वंशधर अति हीन दशा में सितारा और कोलापुर में पेशवाओं के अधीन होकर, एक क्षुद्र जमींदार की तरह दिन काटते थे।

ये मराठा भारत के अन्य प्रदेशों की तरह राजपूताने में भी लूटपाट मचाया करते थे। इनके सामने राजपूताने के राजाओं की कुछ भी नहीं चलती थी और मराठों के डर से वे सदा डरा करते थे। सिन्धिया और जयपुर के राजा जगतसिंह में उस समय घोर शत्रुता थी। जगतसिंह को कृष्णकुमारी मिले, सिन्धिया को यह बात सह्य न हुई। उन्होंने राणा से कहला भेजा कि जगतसिंह के बदले मानसिंह के साथ तुम कृष्णकुमारी का विवाह कर दो।

राणा, सिन्धिया के इस प्रस्ताव पर राजी न हुए। तब सिन्धिया ने एक बड़ी सेना लेकर मेवाड़ पर चढ़ाई की। मेवाड़ मे न तो अब पहले जैसे वीर शूर सामन्त बचे थे और न स्वयं राणा ही पराक्रमी थे। इससे भीमसिंह को सिन्धिया की बात मान लेनी पड़ी। जयपुर के दूतों को राणा ने विदा कर दिया।

जगतसिंह ही भला इस अपमान को क्यों सहने लगे? उन्होंने भी बड़ी घूमधाम से मेवाड़ पर चढ़ाई की। उधर मानसिंह भी अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँचे।

सिन्धिया मानसिंह के सहायक थे। जगतसिंह ने भी

लगी—'माता! तुम उच्चवंश में उत्पन्न हुई हो। वीर-श्रेष्ठ राणावंश की बहू बनकर तुम उदयपुर में आई हो। मैं भी उसी राणावंश में तुम्हारे गर्भ से जन्मी हूँ। देश-रक्षा के लिए मरना, मरना नहीं है किन्तु अपना जीवन धन्य करना है। बेटी की ऐसी मृत्यु के लिए तुम कातर क्यों होती हो? असार क्षणस्थाई जीवन के बदले कौन अपने देश की रक्षा करना न चाहेगा? इस जीवन की क्षुद्र विषय-वासना और आकांक्षा को छोड़कर—अक्षय स्वर्ग और अनन्त कीर्ति को पाना कौन न चाहेगा? इस मरने से मुझे कुछ भी दुःख नहीं है। मुझे तो ऐसी मौत परम सुख देने वाली है। माता! तुम रोना मत, धैर्य रखकर राजपूतानी जैसा बल दिखाओ। तुम मेवाड़ की रानी हो, मेवाड़ की रानी की तरह सतेज और सगर्व मेवाड़ की रक्षा के लिए अपनी कन्या को विदा करो।'

रानी उठी। धीरे-धीरे उन्होंने आँसुओं को रोका। फिर कहने लगी—'बेटी! मैं रोऊं नहीं तो क्या करूँ? इस सङ्कट में भी मेवाड़ की रक्षा के लिए किसी भी राजपूत वीर ने तलवार हाथ में नहीं ली, किसी भी मेवाड़ी वीर ने देश-रक्षा के लिये अपने रक्त की एक बूँद भी न टपकाई, चुपचाप तुम कोमल बालिका की हत्या के लिए षड्यन्त्र रचा गया। कृष्णा! इस दुःख को हृदय में रखने के लिए स्थान नहीं है। आज यदि पूर्वकाल की तरह, राणा के रक्त से अथवा मेवाड़ी वीरों के रक्त से मेवाड़ की भूमि को तर देखती, आज यदि मेवाड़ भर में मेवाड़ी वीरों के अस्त्र

की झनकार और वीरों की हुङ्कार सुनती, तो आज मेरे आनन्द का आरपार नहीं रहता। तुझे गोदी में लेकर मैं हँसती-हँसती चिता पर चढकर भस्म हो जाती। किन्तु मेंवाड़ी राजपूत तो अपने प्राणों को लिये घरों मे छिपे है और तुझे अकाल-मृत्यु के मुख में डालकर अपनी रक्षा करना चाहते हैं। कृष्णा! इस दशा में मैं क्योंकर अपने मन को समझाऊँ?'

माता की बातें सुनकर कृष्णा की आँखों मे जल भर आया। उसने कहा—'माता! तुम ऐसा मत विचारो। जाते-जवाते मेरे मन को कष्ट मत पहुँचाओ। मेवाड़ डूब गया और जान पड़ता है यह उबरेगा भी नहीं; किन्तु यह विचार कर मेवाड़ की रमणी को हाथ-पैर ढीले करके न बैठ रहना चाहिए। जहाँ तक हो सके उसे मेवाड़ का सिर ऊँचा उठाने का ध्यान रखना चाहिए। मेवाड अभी तक जिस प्रकार अपने वीरों के लिए प्रसिद्ध रहा है, उसी प्रकार मेवाड़ी स्त्रियों के लिए भी मेवाड़ धन्य माना जाता है। मेवाडी वीर यदि अपना वीर-धर्म भूल गये है, तो मेवाड़ की वीराङ्गनाएँ अपना धर्म क्यों छोड बैठें? माता! कौन कह सकता है कि वीराङ्गनाओं के वीर-धर्म-व्रत पालन ही से मेवाड़ न जाग उठेगा? मरते समय मैं भगवान एकलिंग से यही प्रार्थना करती हूँ कि मेरी मृत्यु से मेवाड के पाप का प्रायश्चित हो; मेरी मृत्यु के संवाद को सुन मेवाड़ियों के मन पर चोट लगे और वे नवीन उत्साह से भरकर स्वदेश के उद्धार के लिए कटिबद्ध हो।'

राणा के पास समाचार भेजा गया कि आग में जलकर विष

खाकर, तलवार से गला काटकर—जैसे कहिए वैसे कृष्णकुमारी मरने को प्रस्तुत है।

यह सुन किसी के मुख से एक शब्द भी न निकला। विष भेजा गया।

कृष्णा ने ऊपर को देखकर और हाथ जोड़कर अपनी मनोकामना जगदीश्वर को सुनाई और अम्लानवदन उसने विष पान किया।

उस विष से कृष्णा को कुछ भी न हुआ ; तब विष का दूसरा पात्र भेजा गया। किन्तु उससे भी उसे कुछ न हुआ।

यह सुन तीव्र हलाहल विष भेजा गया। उसके पीते ही कृष्णा अचेत हो सदा के लिए सो गई।